अल-रिसाला

नवंबर-दिसंबर 2024

अल-रिसाला

नवंबर-दिसंबर 2024

CPS International
centre for peace & spirituality

माहनामा 'अल-रिसाला' को हिंदी स्क्रिप्ट में लाने की यह हमारी एक कोशिश है। मुश्किल उर्दू अल्फ़ाज़ को भी आसान कर दिया गया है, ताकि ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग इसे पढ़कर फ़ायदा उठाएँ और अपनी ज़िंदगी, अपनी शख़्सियत में मुस्बत (positive) बदलाव ला सकें।

नीचे दी गई हमारी वेबसाइट और सोशल मीडिया पेजिस से मज़ीद फ़ायदा उठाएँ।

संपादकीय टीम

आरिफ़ हुसैन आलम, सैफ़ अनवर
मोहम्मद आरिफ़, फ़रहाद अहमद
ख़ुर्रम इस्लाम क़ुरैशी, इरफ़ान रशीदी

Centre for Peace and Spirituality International
1, Nizamuddin West Market,
New Delhi-110013
info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

cpsglobal.org
twitter.com/WahiduddinKhan
facebook.com/maulanawkhan
youtube.com/CPSInternational
+91-99999 44118
t.me/maulanawahiduddinkhan
linkedin.com/in/maulanawahiduddinkhan
instagram.com/maulanawahiduddinkhan

To order books of
Maulana Wahiduddin Khan, please contact
Goodword Books
Tel. 011-41827083,
Mobile: +91-8588822672
E-mail: sales@goodwordbooks.com

Goodword Bank Details
Goodword Books
State Bank of India
A/c No. 30286472791
IFSC Code: SBIN0009109
Nizamuddin West Market Branch

विषय-सूची

नया साल : उम्मीद और एहतिसाब	4
बेसब्री नहीं	6
इंसान का मिज़ाज	8
एतिराफ़-ए-ख़ता	9
दो क़िस्म के इंसान	11
ग़ैर-संजीदा इंसान	12
ख़ुदा का वजूद	14
यूनिवर्सल फ़ैक्ट्री	15
यहूद का ज़िक्र क़ुरआन में	17
मायूसी नहीं, री-प्लानिंग	18
ख़ुदा की आवाज़	20
ग़ुस्सा एक ताक़त	21
एतिसाम बिल्लाह हिदायत का ज़रिया	23
इस्लामी रूहानियत	24
ज़ुल्म या असरी तक़ाज़ा	26
गुफ़्तगू का अंदाज़	27
वाज़ कौन करे	28
फ़ुरक़ान का उसूल	30
इस्तिक़ामत की सिफ़त	31

ग़लती का एतिराफ़ 32
कन्फ़्यूज़न क्यों? 34
बयानिया अंदाज़ 35
ख़ुशी क्या है? 36
बे-इत्मिनानी का सबब 38
मौत का सफ़र 39
मुताला-ए-हदीस 41
दीन में आसानी 46
डायरी : 1986 49
एक इंटरव्यू 55
आइडियल विज़डम, प्रैक्टिकल विज़डम 66
क़ारईन-ए-अल-रिसाला 67

नया साल : उम्मीद और एहतिसाब

हर ग़ुरूब के लिए एक नया तुलू मुक़द्दर है।

सूरज पश्चिम में ग़ुरूब होता है, ताकि दोबारा पूरब से नई शान के साथ तुलू हो। यह एक रोशन निशानी है, जो आसमान पर ज़ाहिर होकर हर रोज़ हमें बताती है कि ख़ुदा ने अपनी कायनात का निज़ाम किस तरह बनाया है। यह इस हक़ीक़त का एक कायनाती ऐलान है कि ख़ुदा की इस दुनिया में कोई 'ग़ुरूब' आख़िरी नहीं। हर ग़ुरूब के लिए एक नया तुलू मुक़द्दर है। शर्त सिर्फ़ यह है कि आदमी के अंदर उम्मीद और हौसला बाक़ी हो। ग़ुरूब का वाक़या पेश आने के बाद वह मुसबत (positive) सोच के साथ नए सिरे से अपनी जद्दोजहद का मंसूबा बनाए और ज़िंदगी के रास्ते पर दोबारा अपना सफ़र शुरू कर दे।

एहतिसाब

19 जनवरी, 1989 को कश्मीर के दो साहिबान मुलाक़ात के लिए आए। उनसे गुफ़्तगू के दौरान मैंने कहा कि मौजूदा ज़माने में मुसलमानों ने जिन लोगों को अपना लीडर बनाया, वे सब-के-सब मुक़र्रिर (orator) थे। उनमें कोई भी शख़्स मुदब्बिर (wise) न था। यही सबसे बड़ी वजह है कि मौजूदा ज़माने में मुसलमान हर तरफ़ नाकाम और बरबाद नज़र आते हैं। क़ौमों की रहनुमाई के लिए मुदब्बिर शख़्स चाहिए, मुक़र्रिर शख़्स कभी क़ौम की रहनुमाई नहीं कर सकता। यही वजह है कि मुस्लिम क़ियादत मौजूदा ज़माने में सबसे ज़्यादा नाकाम क़ियादत साबित हुई है।

इसकी वजह इसकी यह ग़लती है कि इसने मुसलमानों के मुस्तक़बिल को तामीर के मैदान में तलाश करने के बजाय सियासत के मैदान में तलाश किया। सियासतबाज़ी का मतलब है— अपने मसाइल

के हल के लिए दूसरों के ख़िलाफ़ मुहिम चलाना। जबकि तामीर यह है कि अपने मसाइल के लिए ख़ुद अपने ऊपर अमल किया जाए।

करने का असल काम यह है कि क़ौम को इस हैसियत से तैयार किया जाए कि लोग ईमान और अख़्लाक़ के एतिबार से मज़बूत हों। वे तालीमी एतिबार से आगे हों। उनमें बाहम इत्तिहाद हो, इक़्तिसादी शोबों में उन्होंने अपनी जगह बनाई हो। समाज की भलाई के इदारे उनके दरमियान चल रहे हों। वे ज़माने को पहचानें और उसके मुताबिक़ काम करना जानते हों और फिर सबसे बढ़कर यह कि उनके अंदर यह शऊर उभारा जाए कि वे आला सोच वाले इंसान बनें। इन्हीं चीज़ों के ऊपर किसी क़ौम की तरक़्क़ी का दार-ओ-मदार है, लेकिन मुसलमानों ने दूसरों के ख़िलाफ़ सियासी हंगामा-आराई तो ख़ूब की, लेकिन ख़ुद अपनी तामीर के लिए कोई काम न किया।

मज़ीद नादानी यह है कि सियासतबाज़ी से जब वे कामयाब न हो सके, तो अब उन्होंने दूसरा मशग़ला यह इख़्तियार किया है कि अपनी नाकामी के लिए दूसरों को ज़िम्मेदार ठहरा रहे हैं। हालाँकि इस क़िस्म की बातों से वे, क़ुरआन के मुताबिक़, सिर्फ़ यह बात साबित कर रहे हैं कि उन्होंने कलमा-ए-तय्यिबा (Good Word) का दरख़्त नहीं उगाया था, बल्कि कलमा-ए-ख़बीसा (Evil Word) का दरख़्त उगाया था, क्योंकि कलमा-ए-तय्यिबा के दरख़्त के लिए ख़ुदा का ऐलान है कि कोई इस को उखाड़ नहीं सकता—

أَصْلُها ثابِتٌ وَفَرْعُها فِي السَّماءِ.

“कलमा-ए-तय्यिबा की जड़ ज़मीन में जमी हुई है और जिसकी शाख़ें आसमान तक पहुँची हुई हैं।” (क़ुरआन, 14:24)

इसके बरअक्स अल्लाह तआला के क़ानून-ए-फ़ितरत के मुताबिक़, यह अंजाम सिर्फ़ कलमा-ए-ख़बीसा के दरख़्त के लिए मुक़द्दर है कि जो चाहे हाथ बढ़ाकर इसे उखाड़ ले। क़ुरआन के अलफ़ाज़ में, कलमा-ए-

ख़बीसा की मिसाल एक ख़राब दरख़्त की है, जो ज़मीन के ऊपर ही से उखाड़ लिया जाए। उसे कोई ठहराव नहीं—

اجْتُثَّتْ مِنْ فَوْقِ الْأَرْضِ مَا لَهَا مِنْ قَرَارٍ. (14:26)

सूर-ए-आख़िरत

1 जनवरी, 2002 को मैं बंबई (मौजूदा मुंबई) में था। मैं हारून शेख़ साहब के घर ठहरा हुआ था। 12 बजकर 1 मिनट पर गोला दागने की आवाज़ आई। यह इस बात का ऐलान था कि नया साल शुरू हो गया है। इसी तरह एक वक़्त आएगा, जबकि सूर फूँका जाएगा। सूर की आवाज़ इस बात का ऐलान होगी कि इंसान के लिए एक दौर-ए-हयात ख़त्म हो गया और अब उसकी ज़िंदगी का अगला दौर-ए-हयात शुरू हुआ है, जिसे आख़िरत कहा जाता है।

बेसब्री नहीं

एक हदीस-ए-रसूल यह है—

الأَنَاةُ مِنَ اللهِ وَالعَجَلَةُ مِنَ الشَّيْطَانِ.

"जल्दबाज़ी न करना अल्लाह की तरफ़ से है और जल्दबाज़ी शैतान की तरफ़ से।" (अल-तिर्मिज़ी, हदीस नंबर 2012)

एक दूसरी रिवायत में है—

وَإِذَا اسْتَعْجَلْتَ أَخْطَأْتَ ، أَوْ كِدْتَ تُخْطِئُ.

"अगर तुमने जल्दबाज़ी की, तो ग़लती का इर्तिकाब किया या यह इमकान है कि तुम ग़लती कर जाओ।"
(अल-सुनन अल-कुबरा लिल-बैयहक़ी, हदीस नंबर 20271)

इंसानी अमल के दो तरीक़े हैं— एक है उजलत (hurry) का अंदाज़ और दूसरा है तवक़्क़ुफ़ (patience) का अंदाज़। तजुर्बा बताता है कि जो काम सोच-समझकर किया जाए, उसमें नुक़सान का अंदेशा कम रहता है। इसके बरअक्स जिस काम को बग़ैर सोचे-समझे और बिना मंसूबा-बंदी के किया जाए, उसमें नुक़सान का अंदेशा बढ़ जाता है। इस फ़ितरी हक़ीक़त का ऐलान ट्रैफ़िक सेफ़्टी के हवाले से शाह-राहों (roads) पर जगह-जगह किया जाता है— तेज़ रफ़्तारी से इंसान को थ्रिल मिलता है, मगर वह इंसान की जान ले लेती है—

Speed thrills but kills

गाड़ी चलाते हुए रास्ते में बहुत सारी चीज़ों की रिआयत करनी पड़ती है, तब आप हिफ़ाज़त के साथ अपनी मंज़िल तक पहुँचते हैं। मसलन— स्पीड ब्रेकर, ट्रैफ़िक लाइट, दूसरी गाड़ियाँ, पैदल चलने वाले लोग और सड़क का गड्ढा वग़ैरह। अगर आप इन चीज़ों का ख़्याल न करें और फ़ुल स्पीड में गाड़ी को चलाते रहें, तो इस बात का ज़्यादा इमकान है कि किसी जगह आप एक्सीडेंट से दो-चार हो जाएँगे।

यही मामला इंसानी ज़िंदगी का है। मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान साहब के बक़ौल, "इस दुनिया में हर काम बाहरी असबाब (factors) से अंजाम पाता है। आपकी ज़िंदगी में 99 फ़ीसद से ज़्यादा हिस्सा बाहरी असबाब का है और 1 फ़ीसद से भी कम हिस्सा आपकी कोशिश का। ख़ारिजी असबाब का लिहाज़ न करते हुए जो इक़दाम किया जाएगा, वह सिर्फ़ तबाही की तरफ़ ले जाता है। जल्दबाज़ी में आदमी सिर्फ़ अपनी ख़्वाहिश को जानता है, वह ख़ारिजी असबाब से बेख़बर रहता है। इसके बरअक्स साबिर इंसान अपनी ख़्वाहिश के साथ ख़ारिजी असबाब को भी अपने ध्यान में रखता है। यही वजह है कि जल्दबाज़ी करने वाला आदमी अकसर नाकाम होता है और साबिर इंसान हमेशा कामयाब रहता है।"

डॉ. फ़रीदा ख़ानम

(माख़ूज़— अल-रिसाला; मार्च-अप्रैल, 2022)

इंसान का मिज़ाज

क़ुरआन की एक आयत इन अलफ़ाज़ में आई है—

لَا يَسْأَمُ الْإِنْسَانُ مِنْ دُعَاءِ الْخَيْرِ
وَإِنْ مَسَّهُ الشَّرُّ فَيَئُوسٌ قَنُوطٌ.

"इंसान भलाई माँगने से नहीं थकता और अगर उसे कोई तकलीफ़ पहुँच जाए, तो वह मायूस और दिल-शिकस्ता हो जाता है।" (क़ुरआन, 41:49)

इंसान की एक सिफ़त 'अदम-ए-इत्मिनान' (discontent) है। यह सिफ़त फ़ितरी तौर पर हर इंसान के अंदर होती है। यह असलन एक मुसबत सिफ़त है। वह इसलिए कि आदमी हमेशा कोशिश करता रहे। वह ज़िंदगी में कभी कोशिश के अमल को न छोड़े, लेकिन अकसर ऐसा होता है कि इंसान अपने मतलूब को अपने निशाने से कम पाता है। यह वाक़या इंसान को मायूसी में मुब्तला कर देता है। अगर आदमी यह करे कि वह मिले हुए का एतिराफ़ करे और न मिले हुए के लिए 'री-प्लानिंग' करता रहे, तो उसके अंदर शुक्र का जज़्बा कभी ख़त्म नहीं होगा। वह मायूसी में मुब्तला होकर अपने आपको ज़ाया करने से बच जाएगा, नामुमकिन की तलाश में वह मुमकिन से महरूम नहीं रहेगा।

आदमी के लिए सही तरीक़ा यह है कि जब भी वह अपने मुक़र्रर निशाने को न पाए, वह महसूस करे कि उसका मतलूब उसे हासिल नहीं हुआ, तो वह मनफ़ी सोच का शिकार होने के बजाय 'री-थिंकिंग' का तरीक़ा इख़्तियार करे। वह पूरे मामले का नए सिरे से जायज़ा ले। वह दरियाफ़्त करे कि इंसान के लिए अल्लाह का मंसूबा-ए-तख़्लीक़ क्या

है। ऐन मुमकिन है कि इस ग़ौर-ओ-फ़िक्र में वह अपनी ज़िंदगी की कोई गुमशुदा कड़ी को दरियाफ़्त कर ले, जिससे बेख़बर होने की बिना पर वह मायूसी का शिकार हो गया था।

यही वह हक़ीक़त है, जिसे सुलह-ए-हुदैबिया के हवाले से एक ताबई ने इन अलफ़ाज़ में नक़ल किया—

فَمَا فُتِحَ فِي الْإِسْلَامِ فَتْحٌ قَبْلَهُ كَانَ أَعْظَمَ مِنْهُ.

"इस्लाम में इससे पहले जो फ़तह हासिल हुई, उनमें से कोई फ़तह इतनी अज़ीम नहीं है।"

(सीरत इब्न हिशाम, जिल्द 2, सफ़्हा 322)

इंसान की हर मनफ़ी सोच मौक़ों से बेख़बरी का नतीजा होती है। आप अपनी बेख़बरी को तोड़िए और आप कभी मायूसी का शिकार नहीं होंगे।

एतिराफ़-ए-ख़ता

क़ुरआन की एक आयत इन अलफ़ाज़ में आई है—

قُلْ يٰعِبَادِيَ الَّذِيْنَ اَسْرَفُوْا عَلٰٓى اَنْفُسِهِمْ لَا تَقْنَطُوْا مِنْ رَّحْمَةِ اللّٰهِ اِنَّ اللّٰهَ يَغْفِرُ الذُّنُوْبَ جَمِيْعًا اِنَّهٗ هُوَ الْغَفُوْرُ الرَّحِيْمُ.

"कहो कि ऐ मेरे बंदो, जिन्होंने अपनी जानों पर ज़्यादती की है, अल्लाह की रहमत से मायूस न हों। बेशक अल्लाह तमाम गुनाहों को माफ़ कर देता है। वह बड़ा बख़्शने वाला, मेहरबान है।" (क़ुरआन, 39:53)

यह आयत तख़्लीक़ी (creative) मिज़ाज लोगों के बारे में है। तारीख़ में तमाम बड़े काम तख़्लीक़ी मिज़ाज लोगों ने किया है। वे

आम लोगों से ज़्यादा बड़ा कारनामा अंजाम देते हैं, क्योंकि वे रिवायती तरीक़े से हटकर काम करते हैं। इस बिना पर ऐसे लोगों के लिए ग़लती का इमकान भी ज़्यादा रहता है। आयत में इस बात पर उभारा गया है कि आदमी हर हाल में पुर-उम्मीद रहकर अपना अमल जारी रखे। वह हर हाल में यह ईमान रखे कि अगर नीयत दुरुस्त है, तो कोई ग़लती चाहे कितनी ही बड़ी हो, अल्लाह की माफ़ी की कोई हद नहीं।

एक मर्तबा एक सहाबी रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के पास आए और कहा कि मुझसे बराबर गुनाह सरज़द होते रहते हैं। आपने कहा, "जब भी ग़लती हो जाए, तो तौबा कर लो।" उसने कहा, "तब तो मेरे गुनाह बहुत ज़्यादा हो जाएँगे।" आपने कहा—

عَفْوُ اللهِ أَكْثَرُ مِنْ ذُنُوبِكَ.

"अल्लाह की माफ़ी तेरे गुनाह से ज़्यादा वसीअ है।"
(अल-मोजम अल-औसत अल-तबरानी, हदीस नंबर 4854)

इसका मतलब यह है कि ग़लती करना बुराई नहीं है, बल्कि ग़लती करने के बाद अल्लाह से रुजू न करना (उसकी ओर न लौटना) बुराई है। अल्लाह के बारे में यह एतिक़ाद उम्मीद को बहुत ज़्यादा बढ़ा देता है। इस अक़ीदे की सूरत में उम्मीद की कोई हद नहीं है।

अल्लाह तआला पर ईमान एक इर्तिक़ा-पज़ीर (evolutionary) हक़ीक़त है, इसलिए अल्लाह की रहमत से उम्मीद कोई सादा बात नहीं। इसका मतलब यह है कि अमल का मौक़ा इंसान के लिए हर हाल में बाक़ी है। यह अक़ीदा गोया मज़ीद अमल के लिए मुहर्रिक (incentive) की हैसियत रखता है। यह अक़ीदा इंसान के अंदर अमल के मौक़ों को बहुत ज़्यादा बढ़ा देता है। इंसान को मौक़ा देता है कि वह मज़ीद सोचे, अपना करेक्शन करे और मौक़ों की मज़ीद सूरतें ढूँढकर निकाले और हर हाल में अपने मक़सद के लिए कोशिश

जारी रखे। इस दुनिया का फ़ितरी क़ानून यही है कि जो ना-उम्मीद हुआ, वह नाकाम हो गया और जिसने उम्मीद को बाक़ी रखा, वह कामयाबी तक पहुँचा।

दो क़िस्म के इंसान

इंसानों में दो क़िस्म के इंसान होते हैं। एक वह इंसान, जो बहुत बोलता है, लेकिन काम में वह पीछे होता है और दूसरा इंसान वह है, जो ब-क़द्रे-ज़रूरत बोलता है, वरना चुप रहता है। पहला इंसान वह है, जो बोलता ज़्यादा है, लेकिन सोचता कम है और दूसरा इंसान वह है, जो सोचता ज़्यादा है और बात करता है, तो सोच-समझकर करता है। पहली क़िस्म के इंसान का दूसरा नाम है— ग़ैर-संजीदा इंसान और दूसरी क़िस्म के इंसान का नाम है— संजीदा इंसान।

यह कोई सादा बात नहीं। जो इंसान ज़्यादा बोलेगा, वह करने के मामले में कम होगा। इसके बरअक्स जो आदमी कम बोलेगा, वह करने के मामले में ज़्यादा होगा। अक़्लमंद आदमी वह है, जो किसी के बोलने को न देखे, बल्कि यह देखे कि कोई आदमी करने के वक़्त कैसा काम करता है। क़ुरआन में दो आयतें इन अलफ़ाज़ में बयान की गई हैं—

يَاأَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا لِمَ تَقُولُونَ مَا لَا تَفْعَلُونَ
كَبُرَ مَقْتًا عِنْدَ اللَّهِ أَنْ تَقُولُوا مَا لَا تَفْعَلُونَ ـ.

"ऐ ईमान वालो, तुम ऐसी बात क्यों कहते हो जो तुम करते नहीं। अल्लाह के नज़दीक यह बात बहुत नाराज़गी की है कि तुम ऐसी बात कहो जो तुम करो नहीं।" (क़ुरआन, 61:2-3)

मुफ़स्सिर इब्न कसीर इन आयात की तफ़्सीर में लिखते हैं कि यह उन लोगों पर तनक़ीद है, जो कहते हैं, लेकिन करते

नहीं; वादा करते हैं, लेकिन उसे पूरा नहीं करते। कुछ उलमा (إِنْكَارٌ عَلَى مَنْ يَعد عدَةً، أَوْ يَقُولُ قَوْلًا لَا يَفِي بِهِ) ने इस आयत से दलील पेश की है कि वादे को पूरा करना हर हाल में वाजिब है, चाहे जिससे वादा किया है, वह उसकी ताकीद करे या न करे।

(तफ़्सीर इब्न कसीर, जिल्द 8, सफ़्हा 105)

हक़ीक़ी इंसान वह है, जिसके कहने और करने में मुताबिक़त हो, यहाँ तक कि उस वक़्त भी, जबकि आदमी को अपने कहने की क़ीमत देनी पड़े। जब एक इंसान के अंदर यह सिफ़त पैदा हो जाए, तो वह बोलने से पहले बहुत ज़्यादा सोचेगा। वह कोई ऐसी बात बोलने से बचेगा, जिसे वह पूरा न कर सकता हो। इस हक़ीक़त को एक हदीस-ए-रसूल में इस तरह बयान किया गया है—

فَلْيَقُلْ خَيْرًا أَوْ لِيَصْمُت.

"ईमान वाले को चाहिए कि वह ख़ैर की बात करे या चुप रहे।"

(सहीह बुख़ारी, हदीस नंबर 6018)

ग़ैर-संजीदा इंसान

क़ुरआन में इंसान की एक ना-पसंदीदा रविश को इन अलफ़ाज़ में बयान किया गया है—

وَجَحَدُوا بِهَا وَاسْتَيْقَنَتْهَا أَنْفُسُهُمْ ظُلْمًا وَعُلُوًّا.

"और उन्होंने उसका इनकार किया, ज़ुल्म और घमंड की वजह से, हालाँकि उनके दिलों ने उसका यक़ीन कर लिया था।"

(क़ुरआन, 27:14)

इंसानों में से कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो हक़ की दलील वाज़ेह हो जाने के बाद भी उसे नहीं मानते हैं। वे अपने ग़ैर-संजीदा जवाब के ज़रिए यह ज़ाहिर करना चाहते हैं कि हक़ की बात इस क़ाबिल ही नहीं कि उसे कोई वज़न दिया जाए। ऐसा क्यों होता है कि इंसान दलील समझ में आ जाने के बाद भी उसे नहीं मानता है? इसका सबब यह है कि दलील को मानना अपनी बड़ाई को ख़त्म करना है और ग़ैर-संजीदा इंसान को यह पसंद नहीं होता कि वह अपनी बड़ाई के ख़ात्मे की क़ीमत पर किसी बात को माने।

यह रविश दुरुस्त रविश नहीं। यह मिज़ाज तवाज़ो (modesty) के ख़िलाफ़ है। चाहे इंसान अपने आपको कितना ही ज़्यादा मॉडेस्ट माने। जिस आदमी के अंदर तवाज़ो की नफ़्सियात पाई जाए, उसका हाल यह होगा कि वह हर चीज़ को सच्चाई की निस्बत से देखेगा, न कि कोई बात उसके मिज़ाज के मुताबिक़ है या नहीं। मोडेस्ट इंसान अपने मिज़ाज को ब-मुक़ाबला इंसान की नज़र से नहीं देखेगा, बल्कि वह अपने मिज़ाज को ब-मुक़ाबला सच्चाई की नज़र से देखेगा।

कोई इंसान ग़ैर-संजीदा इंसान कैसे बनता है? जब वह ज़िंदगी की गहरी हक़ीक़त से वाक़िफ़ न हो, वह ख़ुदा की मारिफ़त से ख़ाली इंसान हो। ऐसा इंसान दुनिया को उसके ज़ाहिर के एतिबार से देखता है और उसी एतिबार से अपने लिए एक रविश इख़्तियार करता है। यह तरीक़-ए-ज़िंदगी बिला-शुब्हा ख़ुदा से बे-ख़ौफ़ी का नतीजा है। इसके बरअक्स संजीदा इंसान वह इंसान है, जिसे सच्चाई की दरियाफ़्त हो, उसकी ज़िंदगी का मक़सद ख़ुदा की मारिफ़त हासिल करना हो। वह तदब्बुर-ओ-तफ़क्कुर (contemplation) का तरीक़ा इख़्तियार करे, ताकि उसके ज़रिए से उसे कोई रूहानी ख़ुराक हासिल हो (आले-इमरान, 3:190-194)।

ख़ुदा का वजूद

ख़ुदा की दरियाफ़्त इंसान के लिए मारिफ़त का आग़ाज़ है। जो शख़्स अल्लाह रब्बुल आलमीन को दरियाफ़्त कर ले, उसने तमाम हक़ीक़तों को दरियाफ़्त कर लिया। उसने हक़ीक़त के सिरे को पा लिया। ख़ुदा की दरियाफ़्त के बग़ैर हर चीज़ ग़ैर-दरियाफ़्त-शुदा बनी रहती है। ख़ुदा की दरियाफ़्त करने के बाद हर चीज़ दरियाफ़्त-शुदा बन जाती है। ख़ुदा को दरियाफ़्त करते ही इंसान को वह 'शाह कलीद' (master key) मिल जाती है, जिसके बाद उसके लिए हर चीज़ को दरियाफ़्त करना मुमकिन हो जाता है। ख़ुदा को दरियाफ़्त करते ही उसके ज़ेहन के तमाम दरवाज़े खुल जाते हैं, यहाँ तक कि कोई दरवाज़ा उसपर बंद नहीं रहता।

ख़ुदा की दरियाफ़्त किसी इंसान के लिए उतनी ही आसान है, जितनी ख़ुद अपनी दरियाफ़्त, इसीलिए कहा गया है—

مَنْ عَرَفَ نَفْسَهُ فَقَدْ عَرَفَ رَبَّهُ.

"जिसने अपने आपको दरियाफ़्त किया, उसने अपने ख़ुदा को दरियाफ़्त कर लिया।"

(हिलयतुल औलिया, जिल्द 10, सफ़्हा 208)

इस क़ौल को एक हदीस पर ग़ौर करके समझा जा सकता है। इस हदीस के अलफ़ाज़ ये हैं—

خَلَقَ اللهُ آدَمَ عَلَى صُورَتِه.

"अल्लाह ने आदम को अपनी सूरत पर पैदा किया।"

(सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 6227)

इसका मतलब ग़ालिबन यह है कि अल्लाह रब्बुल आलमीन के अंदर जो सिफ़ात ख़ालिक़ की सतह पर कामिल मअनों में मौजूद हैं,

उन्हीं में से कुछ सिफ़ात इंसान के अंदर मख़्लूक़ की सतह पर बतौर अतिया मौजूद हैं, जो ख़ुदा ने इंसान को अता किया है। मसलन— रहम, शफ़क़त, तदबीर वग़ैरह। इसकी बिना पर यह मुमकिन है कि आदमी एक से दूसरे को समझे। वह अपने वजूद की मारिफ़त हासिल करके अल्लाह रब्बुल आलमीन की मारिफ़त तक पहुँचे। अगर आदमी ऐसा करे, तो उसके लिए अल्लाह की याद, अल्लाह से दुआ करना, अल्लाह का तसव्वुर क़ायम करना आसान हो जाएगा।

मसलन— इंसान अपने साथ किसी की शिरकत को पसंद नहीं करता। उसे ग़ैरत आती है कि उसके साथ कोई इंसान उसका शरीक बन जाए। इस तजुर्बे से इंसान को यह सबक़ लेना चाहिए कि अल्लाह रब्बुल आलमीन ब-दर्जा ज़्यादा इस सिफ़त का हामिल होगा यानी इस मामले में उसका कोई हम-सर नहीं। इंसान अगर संजीदा हो, तो यह उसूल उसके लिए ख़ुदा की मारिफ़त में बहुत ज़्यादा मददगार बन जाएगा।

यूनिवर्सल फ़ैक्ट्री

ब्रिटिश शायर वाल्टर (1873-1956) का वाक़या है। वह एक मर्तबा खाने की मेज़ पर बैठा हुआ था। घर के कई अफ़राद खाने-पीने में मशग़ूल थे। उनमें एक लड़की भी थी। शायर ने देखा कि वह फ़ूड आइटम लेती है और उसे खाती है। वह सोचने लगा कि यह खाना जो लड़की खा रही है, वह खाना जिस्म में पहुँचकर ख़ून, गोश्त और हड्डी की शक्ल में ढल जाता है। यह देखकर उसने यह शेर कहा—

It’s a very odd thing, As odd as can be,

That whatever Miss T eats Turns into Miss T.

खाना खाने के बाद इंसान के जिस्म में कैसा हैरत-अंगेज़ वाक़या पेश आता है यानी खाना और पानी जिस्म के अंदर इंसान की शख़्सियत की सूरत में ढल जाते हैं। यह ख़ुदावंद रब्बुल आलमीन की एक अजीब-ओ-ग़रीब फ़ैक्ट्री है, जिसमें यह वाक़या पेश आता है।

इस तरह के तख़्लीक़ी वाक़यात इस ज़मीन पर हर लम्हा पेश आ रहे हैं, मगर ये वाक़यात किसी ऐलान के बग़ैर पेश आते हैं। ब-ज़ाहिर ऐसा मालूम होता है कि हमारी दुनिया एक ऑटोमैटिक कारख़ाना है, मगर कायनात का मुताला बताता है कि यह कायनाती कारख़ाना ऑटोमैटिक नहीं है। यह हय्यु-ओ-क़य्यूम रब्बुल आलमीन के हुक्म से चल रहा है। फ़ितरत के इसी अज़ीम वाक़ये की तरफ़ क़ुरआन में इन अलफ़ाज़ में इशारा किया गया है—

اللَّهُ الَّذِي رَفَعَ السَّماواتِ بِغَيْرِ عَمَدٍ تَرَوْنَها ثُمَّ اسْتَوى عَلَى الْعَرْشِ وَسَخَّرَ الشَّمْسَ وَالْقَمَرَ كُلٌّ يَجْرِي لِأَجَلٍ مُسَمًّى يُدَبِّرُ الْأَمْرَ يُفَصِّلُ الْآياتِ لَعَلَّكُمْ بِلِقاءِ رَبِّكُمْ تُوقِنُونَ.

“अल्लाह ही है, जिसने आसमान को बुलंद किया, बग़ैर ऐसे सुतून के, जो तुम्हें नज़र आएँ। फिर वह अपने तख़्त पर मुतमक्किन (Eshtablished) हुआ और उसने सूरज व चाँद को एक क़ानून का पाबंद बनाया— हरेक एक मुक़र्ररा वक़्त पर चलता है। अल्लाह ही हर काम का इंतज़ाम करता है। वह निशानियों को खोल-खोलकर बयान करता है, ताकि तुम अपने रब से मिलने का यक़ीन करो।” (क़ुरआन, 13:2)

आदमी अगर इन निशानियों में ग़ौर करे, तो वह कह उठेगा—

فَتَبَارَكَ اللهُ أَحْسَنُ الْخَالِقِينَ.

“बड़ा ही बा-बरकत है अल्लाह, बेहतरीन पैदा करने वाला।”
(क़ुरआन, 23:14)

यहूद का ज़िक्र क़ुरआन में

यहूद का ज़िक्र क़ुरआन में असलन ख़ुद यहूद के लिए नहीं है। क़ुरआन में यहूद का ज़िक्र बतौर मिसाल है। यहूद की मिसाल से उम्मत-ए-मुहम्मदी को होशियार किया गया है कि तुम इस रविश से अपने आपको बचाओ। इस हक़ीक़त का इशारा क़ुरआन की इस आयत में मिलता है—

أَلَمْ يَأْنِ لِلَّذِينَ آمَنُوا أَنْ تَخْشَعَ قُلُوبُهُمْ لِذِكْرِ اللَّهِ وَمَا نَزَلَ مِنَ الْحَقِّ وَلَا يَكُونُوا كَالَّذِينَ أُوتُوا الْكِتَابَ مِنْ قَبْلُ فَطَالَ عَلَيْهِمُ الْأَمَدُ فَقَسَتْ قُلُوبُهُمْ وَكَثِيرٌ مِنْهُمْ فَاسِقُونَ.

“क्या ईमान वालों के लिए वह वक़्त नहीं आया कि उनके दिल अल्लाह की नसीहत के आगे झुक जाएँ और उस हक़ के आगे, जो नाज़िल हो चुका है और वे उन लोगों की तरह न हो जाएँ, जिन्हें पहले किताब दी गई थी, फिर उन पर लंबी मुद्दत गुज़र गई, तो उनके दिल सख़्त हो गए और उनमें से अकसर लोग ना-फ़रमान हैं।” (क़ुरआन, 57:16)

यह किसी उम्मत के दौर-ए-ज़वाल की बात है, जो तूल-ए-अमद यानी लंबा अरसा गुज़रने के बाद फ़ितरत के क़ानून के मुताबिक़ लाज़िमन पैदा होता है यानी यह ज़ाहिरा बाद की नस्लों में पेश आता है, न कि इब्तिदाई नस्लों में। बाद के दौर में यह होता है कि उम्मत की इब्तिदाई नस्ल ख़त्म होकर नई नस्ल आ जाती है, जिनमें उमूमी सतह पर ईमान शऊरी दरियाफ़्त के बजाय एक क़ौमी कल्चर बन जाता है। उनमें आख़िरत का ज़िंदा एहसास बाक़ी नहीं रहता। अल्लाह के डर के बजाय ‘अल्लाह की पसंदीदा क़ौम’ का ख़ुद-साख़्ता तसव्वुर पैदा हो जाता है वग़ैरह।

इस दौर-ए-ज़वाल का ताल्लुक़ सिर्फ़ यहूद से नहीं है, बल्कि हर उस गिरोह से है, जिस पर तूल-ए-अमद का तजुर्बा पेश आ जाए यानी वह चीज़, जिसे नफ़्सियात की इस्तिलाह में 'डी-जेनरेशन' कहा जाता है। कोई भी गिरोह लंबी मुद्दत पेश आने के बाद 'डी-जेनरेशन' का शिकार होने से बच नहीं सकता। इस अमल से पूरे तौर पर बचना शायद मुमकिन न हो। अलबत्ता तालीम-ओ-तर्बियत के ज़रिए इसके असर को कम किया जा सकता है। मौजूदा ज़माने के यहूद में जुज़ई तौर पर यह वाक़या पेश आया है, अगरचे वह ज़्यादातर सेक्युलर मआनी में है। क़ुरआन उम्मत-ए-यहूद और उम्मत-ए-नसारा की मिसाल देकर उम्मत-ए-मुस्लिम को यह रहनुमाई दे रहा है कि वे अपने आपको इस क़िस्म की ज़वाल-याफ़्ता रविश से दूर रखें।

मायूसी नहीं, री-प्लानिंग

क़ुरआन में एक आयत इन अलफ़ाज़ में आई है—

قُلْ يَاعِبَادِيَ الَّذِينَ أَسْرَفُوا عَلَى أَنْفُسِهِمْ لَا تَقْنَطُوا مِنْ رَحْمَةِ اللَّهِ إِنَّ اللَّهَ يَغْفِرُ الذُّنُوبَ جَمِيعًا إِنَّهُ هُوَ الْغَفُورُ الرَّحِيمُ.

"कहो कि ऐ मेरे बंदो, जिन्होंने अपनी जानों पर ज़्यादती की है, अल्लाह की रहमत से मायूस न हों। बेशक अल्लाह तमाम गुनाहों को माफ़ कर देता है, वह बड़ा बख़्शने वाला, मेहरबान है।"

(क़ुरआन, 39:53)

इस आयत का मतलब सिर्फ़ अदम-ए-क़ुनूत (ना-उम्मीदी) नहीं है, बल्कि इस आयत में 'री-प्लानिंग' की बात है। इसका मतलब यह है कि जिन्होंने पहले चांस को खो दिया, उनके लिए अल्लाह के यहाँ दूसरा चांस मौजूद है। वे 'री-प्लानिंग' करके ख़ुद को दोबारा

कामयाब बना सकते हैं। ना-उम्मीदी एक अक़ीदे की बात है, लेकिन 'री-प्लानिंग' का मतलब नया राह-ए-अमल इख़्तियार करना है। दूसरे अलफ़ाज़ में, इसे इस तरह बयान किया जा सकता है कि अगर कुछ ग़लती हो गई, तो इसकी बिना पर ख़ुद को हमेशा के लिए नाकाम न समझ लो, बल्कि 'री-प्लानिंग' करके ख़ुद को दोबारा कामयाब बना सकते हो।

'री-प्लानिंग' का मतलब है पिछले मंसूबे में तजुर्बात का इज़ाफ़ा करना और नई मालूमात की रोशनी में नए सिरे से अपने अमल का नक़्शा बनाना। इस तरीक़-ए-कार के ज़रिए यह मुमकिन होता है कि पहले मंसूबे में जो मक़सद हासिल न हुआ हो, उस मक़सद को दोबारा बेहतर अंदाज़ में मुनज़्ज़म करके दोबारा हासिल करने की कोशिश की जाए।

अस्ल यह है कि इंसान हमेशा ग़लती करता है। हदीस-ए-रसूल है—

كُلُّ ابْنِ آدَمَ خَطَّاءٌ وَخَيْرُ الخَطَّائِينَ التَّوَّابُون.

"हर इंसान ग़लती करने वाला है और सबसे अच्छा ग़लती करने वाला वह है, जो ग़लती के बाद तौबा करे।"

(सुनन अल-तिर्मिज़ी, हदीस नंबर 2499)

यह हदीस मज़कूरा आयत की शरह (interpretation) है। इसका मतलब सिर्फ़ ज़बानी तौर पर लफ़्ज़-ए-तौबा दोहराना नहीं है, बल्कि इसका मतलब यह है कि जब इंसान से कोई ग़लती हो जाए, तो वह ख़ुद को ना-उम्मीदी से बचाकर अपना मुहासबा करे। इसका फ़ायदा यह होगा कि इंसान के अंदर सही सोच जागेगी। इस तरह वह इस क़ाबिल हो जाएगा कि उसके अंदर एक नई शख़्सियत 'इमर्ज' करे। वह अपने मामले की 'री-प्लानिंग' करेगा और सच्चाई के रास्ते पर फिर चलने लगेगा।

ख़ुदा की आवाज़

ख़ुदा ने क़ुरआन उतारा और इसमें यह कहा है—

لِيَكُوْنَ لِلْعٰلَمِيْنَ نَذِيْرًا.

"ताकि वह जहान वालों के लिए डराने वाला हो।"

(क़ुरआन, 25:1)

आयत का यह हिस्सा बताता है कि ख़ुदा की प्लानिंग क्या थी। वह प्लानिंग यह थी कि क़ुरआन पर ईमान लाने वाले लोग उठें और अल्लाह की मदद से उसे पूरी दुनिया के इंसानों तक पहुँचा दें। एक तरफ़ क़ुरआन में यह ऐलान था और दूसरी तरफ़ अल्लाह ने दुनिया में एक नया प्रॉसेस चलाया, जिसके नतीजे में इंटरनेशनल कम्युनिकेशन का दौर वजूद में आया, जिसे अवेल करके ख़ुदा के मंसूबे को पूरा करना था।

इस दरमियान बहुत-से लोग उठे, जो वक़्त की इंटरनेशनल ज़ुबान इंग्लिश जानते थे, लेकिन इन तमाम लोगों ने अंग्रेज़ी ज़ुबान को दुनिया कमाने या लीडरी करने का ज़रिया बना लिया। दूसरी तरफ़ ख़ुदा का मंसूबा इंतज़ार में रहा कि कोई उठे और उसकी तकमील के लिए सरगर्म हो जाए, मगर मेरे इल्म के मुताबिक़ कोई एक मर्द या औरत नहीं थे, जो इस ख़ुदाई मंसूबे के लिए उठे। कुछ लोग ब-ज़ाहिर उठे, लेकिन वे अपनी सलाहियत के एतिबार से इस क़ाबिल नहीं थे कि वे मतलूब मेयार पर इस काम को अंजाम दे सकें।

चुनाँचे उन्होंने जो काम किया, वह लोगों के दरमियान पहुँच न सका, क्योंकि वह वक़्त की मेयारी ज़बान में नहीं था, यहाँ तक कि अल्लाह तआला ने अपने कुछ बंदों को इस काम के लिए चुना। उनके अंदर यह स्पिरिट पैदा की कि वे इस काम के लिए उठ खड़े हों। इस तरह

क़ुरआन का तर्जुमा मतलूब दर्जे की ज़बान में तैयार हुआ और फिर उन्हीं बंदों ने इस तर्जुमे को आलमी सतह पर फैलाने की कोशिश शुरू की। इंशा अल्लाह, لِيَكُوْنَ لِلْعٰلَمِيْنَ نَذِيْرًا का मतलूब वाक़या पेश आने तक काम जारी रहेगा।

मैं सोचता हूँ, तो मुझे तसव्वुर में ऐसा लगता है कि क़यामत आ गई है और फ़रिश्ते ऐलान कर रहे हैं कि वे लोग आला इनाम के लिए सामने आएँ, जो सरमाये की कमी के बावजूद दुनिया की ज़िंदगी में इस मक़सद के लिए उठें कि क़ुरआन को वक़्त की इंटरनेशनल ज़बान में तर्जुमा करके दुनिया के सामने पेश किया जाए, ताकि किसी के लिए अल्लाह पर हुज्जत क़ायम करने की गुंजाइश न हो (अन-निसा, 4:165), क्योंकि यही वह मतलूब काम है, जिसे अंजाम देने से पूरी दुनिया में ख़ुदा के पैग़ाम को पहुँचाने का मक़सद पूरा होगा।

ग़ुस्सा एक ताक़त

क़ुरआन में ग़ुस्से के बारे में यह रहनुमाई आई है—

وَالْكَاظِمِينَ الْغَيْظَ وَالْعَافِينَ عَنِ النَّاسِ.

"वे ग़ुस्से को पी जाने वाले हैं और लोगों से दर-गुज़र करने वाले हैं।" (क़ुरआन, 3:134)

हदीस में आया है कि एक आदमी ने रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम से पूछा कि आप मुझे कोई नसीहत कीजिए। आपने कहा—

لاَ تَغْضَبْ.

"ग़ुस्सा न करो।"
(सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 6116)

क़ुरआन और हदीस में ग़ुस्से के बारे में जो तालीम दी गई है, वह ज़िंदगी में बहुत ज़्यादा अहमियत रखती है। दूसरे लफ़्ज़ों में यह कि लोगों की बातों पर ग़ुस्सा होने के बजाय ग़ुस्से को कंट्रोल करो। यह तुम्हारे लिए रूहानी तरक़्क़ी का बहुत बड़ा ज़रिया बन सकता है। वह यह कि ग़ुस्सा ब-ज़ाहिर एक मनफ़ी वाक़या है, मगर जब तुम ऐसा करोगे, तो फ़ितरत के क़ानून के मुताबिक़ ग़ुस्से की ताक़त कन्वर्ट होकर पॉज़िटिव वाक़या बन जाएगी। इस तरह ग़ुस्सा तुम्हारे लिए तुम्हारी रूहानी तरक़्क़ी का ज़रिया बन जाएगा।

जब तुम ग़ुस्से को कंट्रोल करोगे, तो इसके बाद तुम्हारे अंदर फ़ितरी तौर पर एक प्रॉसेस जारी होगा, जो तुम्हारे लिए रूहानी तरक़्क़ी का ज़रिया बन जाएगा। आदमी को जब ग़ुस्सा आता है, तो यह इंसान के लिए एक बहुत बड़ा लम्हा होता है। ग़ुस्से के वक़्त इंसान के अंदर एक ज़बरदस्त एनर्जी ख़ारिज होती है। इसे 'एंगर एनर्जी' कह सकते हैं। इस एनर्जी को अगर पॉज़िटिव साइड में कन्वर्ट न किया जाए, तो वह नुक़सान का ज़रिया बन जाएगी, लेकिन अगर इस एनर्जी को पॉज़िटिव साइड में कन्वर्ट कर दिया जाए, तो वह इंसान के लिए ज़ेहनी इर्तिक़ा (intellectual development) का ज़रिया बन जाती है।

इंसान के अंदर यह सब जो होता है, वह ख़ुद फ़ितरत के प्रॉसेस के तहत अंजाम पाता है। उस वक़्त फ़ितरत के क़ानून के तहत इंसान के अंदर एक अमल जारी होता है, जो 'एंगर एनर्जी' को इंसान के लिए तामीर की ताक़त का ज़रिया बना देता है। इस मामले में इंसान को सिर्फ़ यह करना है कि वह ग़ुस्से के वक़्त चुप रहकर फ़ितरत के क़ानून को अपना काम करने का मौक़ा दे।

एतिसाम बिल्लाह हिदायत का ज़रिया

एक क़ारी-ए-अल-रिसाला ने सवाल किया है कि क़ुरआन की एक आयत है—

وَمَنْ يَعْتَصِمْ بِاللَّهِ فَقَدْ هُدِيَ إِلَى صِرَاطٍ مُسْتَقِيمٍ

इस आयत के मुताबिक़ एतिसाम बिल्लाह से सिरात-ए-मुस्तक़ीम की हिदायत हासिल होती है। इसकी शक्ल क्या है? (मौलाना फ़याज़ुद्दीन उमरी, गुलबर्गा, कर्नाटक)

क़ुरआन की मज़कूरा आयत का तर्जुमा यह है—

> "जो शख़्स अल्लाह को मज़बूती से पकड़ेगा, तो वह पहुँच गया सीधी राह पर।" (क़ुरआन, 3:101)

ख़ुदा से ताल्लुक़ की बिना पर हिदायत मिलने की एक मिसाल यह है कि क़ुरआन में फ़ितरत के शवाहिद (proof) बयान किए गए हैं। ये शवाहिद अल्लाह रब्बुल आलमीन की मारिफ़त तक पहुँचाने वाले हैं। मसलन— सूरह आले-इमरान की आयात 190-194। इस तरह की आयतें फ़ितरत की ज़बान में ख़ालिक़ की मारिफ़त का ज़रिया हैं।

चुनाँचे जब फ़ितरत की ये निशानियाँ दरियाफ़्त हुईं, तो एक इल्म वजूद में आया, जिसे 'नज़रियाती साइंस' (theoretical science) कहा जाता है। यह साइंस ख़ालिक़ की दरियाफ़्त का ज़रिया है। मसलन— इस ज़माने में एक किताब लिखी गई, जिसे केरल के एक क्रिश्चियन मिशनरी ने छापा था। इस किताब का टाइटल यह था—

Nature and Science Speak about God

यह साइंसी दरियाफ़्तों का असल फल था, मगर बाद में यह हुआ कि 'नज़रियाती साइंस' को 'तत्बीक़ी साइंस' (applied science) की तरफ़ मोड़ दिया गया यानी इल्मी मारिफ़त के बजाय दुनियावी फ़ायदे का ज़रिया बना दिया गया। इस तरह धीरे-धीरे यह होने लगा कि साइंसी दरियाफ़्तें ख़ालिक़ की मारिफ़त के बजाय दुनियावी फ़ायदे के लिए इस्तेमाल होने लगीं।

इस तरह यह हुआ कि निज़ाम-ए-फ़ितरत की जो दरियाफ़्तें ख़ालिक़ की दरियाफ़्त का ज़रिया बन रही थीं, वे सनअती निज़ाम (industrial system) की सूरत में पैसा कमाने का ज़रिया बन गईं। हेनरी फोर्ड ने मोटरकार बनाकर बहुत बड़ी इंडस्ट्री क़ायम की, इसी तरह राइट ब्रदर्स ने हवाई जहाज़ बनाकर बहुत बड़ी हवाई सनअत के लिए राह खोल दी वग़ैरह, लेकिन ये लोग ख़ालिक़-ए-कायनात की दरियाफ़्त के चैंपियन न बन सके।

इस्लामी रूहानियत

रूहानियत अगरचे अपनी जगह पर एक हक़ीक़त है, लेकिन यह क़ुरआन-ओ-हदीस की इस्तिलाह नहीं। ग़ौर करने से मालूम होता है कि रूहानियत अगरचे बा-एतिबार-ए-लफ़्ज़ क़ुरआन में नहीं है, लेकिन बा-एतिबार-ए-मअनी वह क़ुरआन में मौजूद है। यह क़ुरआनी लफ़्ज़ 'अर-रब्बानिया' (आले-इमरान, 3:79) है यानी 'रब-रुख़ी रूहानियत' (God-oriented Spirituality)।

ताहम इस्लामी रूहानियत मबनी बर क़ल्ब रूहानियत (heart-based spirituality) का नाम नहीं है। मबनी बर क़ल्ब रूहानियत एक तसव्वुफ़ की एक इस्तिलाह है। इस्लामी रूहानियत दरअसल

'माइंड बेस्ड स्पिरिचुअलिटी' का दूसरा नाम है यानी फ़िक्र-ओ-शुऊर की इस्लाह। इसका ज़रिया मुराक़बा (meditation) नहीं है, बल्कि इसका ज़रिया ग़ौर-ओ-फ़िक्र (contemplation) है। अपनी ज़ात और कायनात के बारे में ग़ौर-ओ-फ़िक्र करना और उनसे मारिफ़त का ज़ेहनी या फ़िक्री रिज़्क़ हासिल करना। क़ुरआन में इस मौज़ू पर जो आयतें आई हैं, उनका मुताला करने से मालूम होता है कि क़ुरआन मबनी बर ज़ेहन रूहानियत (mind-based spirituality) को मानता है। मबनी बर क़ल्ब रूहानियत का तसव्वुर इस्लाम में मौजूद नहीं। इस सिलसिले में क़ुरआन की दो मुताल्लिक़ा आयतों का तर्जुमा यह है—

> "आसमानों और ज़मीन की पैदाइश में और रात-दिन के बारी-बारी आने में अक़्ल वालों के लिए बहुत निशानियाँ हैं। जो खड़े और बैठे और अपनी करवटों पर अल्लाह को याद करते हैं और आसमानों व ज़मीन की पैदाइश में ग़ौर करते रहते हैं। वे कह उठते हैं कि ऐ हमारे रब, तूने यह सब बे-मक़सद नहीं बनाया। तू पाक है, पस हमें आग के अज़ाब से बचा।"
>
> (क़ुरआन, 3:190-191)

मबनी बर क़ल्ब रूहानियत और मबनी बर ज़ेहन रूहानियत में यह फ़र्क़ है कि मबनी बर क़ल्ब रूहानियत एक पुर-असरार तसव्वुर है। मबनी बर क़ल्ब रूहानियत को मालूम अख़्लाक़ियात की ज़बान में बयान नहीं किया जा सकता। इसके बरअक्स मबनी बर ज़ेहन रूहानियत मुकम्मल तौर पर मबनी बर अक़्ल रूहानियत है। इसके उसूल बयान करना उसी तरह आसान है, जिस तरह दूसरे अक़्ली मज़मून को बयान करना। मबनी बर ज़ेहन रूहानियत एक मालूम और क़ाबिल-ए-दरियाफ़्त रूहानियत है।

ज़ुल्म या असरी तक़ाज़ा

आजकल लिखने और बोलने वालों का आम अंदाज़ यह हो गया है कि वे हर बात को ज़ुल्म के अंदाज़ में लेते हैं। वे अपनी बात इस तरह कहते हैं, जैसे कि मुसलमान मज़लूम हैं और सारी दुनिया उनके लिए ज़ालिम बन गई है। यह तरीक़ा हक़ीक़त-ए-वाक़या के ख़िलाफ़ है। हक़ीक़त यह है कि मौजूदा ज़माने में मुसलमानों के साथ जो कुछ पेश आ रहा है, वह किसी ज़ालिम के ज़ुल्म का मामला नहीं है, बल्कि वह असरी तक़ाज़े का मामला है। असरी तक़ाज़े को न जानने की बिना पर वे इसे ज़ुल्म का मामला बनाकर मनफ़ी ज़बान बोलते हैं।

मसलन— मौजूदा ज़माना इज़हार-ए-ख़्याल की आज़ादी का ज़माना है। तमाम क़ौमों के इत्तिफ़ाक़ से यह मान लिया गया है कि हर शख़्स को हक़ है कि वह अपने ख़्याल का आज़ादाना इज़हार करे। इस हक़ में यह शामिल नहीं है कि उसकी बात किसी के जज़्बात को ठेस पहुँचाने वाली न हो। इस मामले में जो शर्त है, वह सिर्फ़ एक है। वह यह कि उसकी बात के साथ तशद्दुद (violence) शामिल न हो, मगर मुसलमानों का लिखने और बोलने वाला तबक़ा इस असरी तक़ाज़े से वाक़िफ़ नहीं। इसलिए जब वह देखता है कि कुछ लोग ऐसी बात कर रहे हैं, जो उसके अपने ख़्याल के मुताबिक़ उसके जज़्बात को ठेस पहुँचाने वाली है, तो वह भड़क उठता है, यहाँ तक कि वह तशद्दुद पर भी उतर आता है।

मुसलमानों का यह रद्दे-अमल असरी तक़ाज़े के सरासर ख़िलाफ़ है। मुसलमानों को जानना चाहिए कि इस ज़माने में क़ौल के मुक़ाबले में क़ौल का उन्हें पूरी तरह हक़ है, लेकिन क़ौल के मुक़ाबले में तशद्दुद का हरगिज़ उन्हें इख़्तियार नहीं। इज़हार-ए-ख़्याल की आज़ादी किसी

एक गिरोह के लिए नहीं है, बल्कि वह तमाम गिरोहों के लिए है। अगर कोई शख़्स इज़हार-ए-ख़्याल की आज़ादी को अपने फ़िक्र की इशाअत के लिए इस्तेमाल कर रहा है, तो मुसलमानों को भी यह हक़ है कि वे अपने फ़िक्र की इशाअत के लिए इस आज़ादी को इस्तेमाल करें। मसलन— अगर दूसरा शख़्स इस्लाम के ख़िलाफ़ किताब छाप रहा है, तो मुसलमानों को यह हक़ है कि वे उसके जवाब में इस्लाम के मुवाफ़िक़ किताबें तैयार करके उसे छापें और फैलाएँ, मगर उन्हें यह हक़ हासिल नहीं कि वे किसी क़ौल का जवाब तशद्दुद के तरीक़े से दें।

गुफ़्तगू का अंदाज़

हज़रत आयशा की एक रिवायत इन अलफ़ाज़ में आई है—

قَالَتْ: مَا كَانَ رَسُولُ اللهِ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ يَسْرُدُ سَرْدَكُمْ هَذَا، وَلَكِنَّهُ كَانَ يَتَكَلَّمُ بِكَلَامٍ يُبَيِّنُهُ، فَصْلٌ، يَحْفَظُهُ مَنْ جَلَسَ إِلَيْه.

“हज़रत आयशा कहती हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम तुम्हारी तरह जल्दी-जल्दी नहीं बोलते थे, बल्कि ठहर-ठहरकर गुफ़्तगू फ़रमाते थे, बिलकुल साफ़-साफ़; जो आपके पास बैठा हो, वह याद कर ले।”

(सुनन अल-तिर्मिज़ी, हदीस नंबर 3639)

इस हदीस से मालूम होता है कि इंसान की गुफ़्तगू साफ़, वाज़ेह और हर शख़्स के लिए क़ाबिल-ए-फ़हम होनी चाहिए। गुफ़्तगू के दो तरीक़े हैं। एक वह है, जिसे कहते हैं— ‘फ़र-फ़र बोलना’ और दूसरा वह है, जिसे कहते हैं— ‘रुक-रुककर बोलना’। फ़र-फ़र बोलना ग़लत आदत है। ऐसे लोगों को ख़ुद भी याद नहीं रहता कि उन्होंने क्या कहा

और न सुनने वालों को उनकी बात समझ में आती है। इसके बरअक्स गुफ़्तगू का सही तरीक़ा यह है कि आदमी ठहर-ठहरकर बोले। इस तरह सुनने वाला उसकी बात को पकड़ सकेगा और फिर जवाब में जो कुछ कहेगा, वह भी सोची-समझी बात होगी।

जल्दी-जल्दी बोलने का कोई फ़ायदा नहीं। जिस आदमी को तेज़-तेज़ बोलने की आदत हो, वह न अपनी बात को सही तौर पर कह पाएगा और न सुनने वाला उसकी बात को सही तौर पर सुन सकेगा। आदमी को चाहिए कि वह जो बोले, वह सोच-समझकर बोले, ताकि सुनने वाला उसे पूरी तरह समझे और अगर उसकी बात जवाब-तलब हो, तो उसका सही अंदाज़ में जवाब दे।

जो आदमी रुक-रुककर बोले, वह सोच-समझकर बोलेगा और जो फ़र-फ़र बोलने का आदी हो, वह बोलेगा, लेकिन वह ख़ुद भी अपनी बात को समझ नहीं पाएगा और न सुनने वाला समझेगा कि उसे सामने वाले ने क्या कहा। मज़ीद यह कि बोलने का अंदाज़ आदमी की शख़्सियत का तारुफ़ है। एक तरीक़े से यह अंदाज़ा होता है कि आदमी संजीदा शख़्सियत का हामिल है और दूसरा तरीक़ा आदमी की शख़्सियत का बरअक्स तारुफ़ पेश करता है।

वाज़ कौन करे

एक बुज़ुर्ग ने फ़रमाया— "वाज़ (sermon) वह शख़्स करे, जिसे वाज़ का कम-से-कम इतना तक़ाज़ा हो, जितना एक शख़्स को रफ़ा-ए-हाजत (answering the call of nature) का होता है।"

वाज़ का मतलब रिकॉर्ड बजाना नहीं है और न यह मक़सद है कि एक शानदार तक़रीर करके लोगों से यह दाद ली जाए कि 'क्या ख़ूब

बोले!' वाज़ का मतलब अपने अंदरून को उँडेलना है। एक पाई हुई हक़ीक़त को दूसरों तक पहुँचाना है। एक छुपी हुई बात को लोगों पर खोलने के लिए ज़िंदा गवाह बनकर खड़ा होना है। इस क़िस्म का वाज़ महज़ कुछ अलफ़ाज़ बोलना नहीं, बल्कि एक मुश्किल-तरीन अमल करना है। कोई शख़्स हक़ीक़ी मअनों में यह अमल उसी वक़्त कर सकता है, जबकि वह अपनी बात को कहने के लिए इतना बेचैन हो चुका हो कि वह महसूस करे कि उसे हर क़ीमत पर अपनी बात लोगों तक पहुँचानी है, चाहे इसके लिए लोग उससे नाराज़ हो जाएँ और चाहे उसकी राह में उसे अपना सब कुछ खो देना पड़े।

यही मामला तहरीर का भी है। आदमी को चाहिए कि इतना ज़्यादा मुताला करे कि मालूमात उसके ज़ेहन से उबलने लगे। मुताल्लिक़ा मौज़ू पर जो ज़ख़ीरा तैयार हो चुका है, उसे छापने के बाद वह महसूस करे कि अब भी कुछ लिखने के लिए बाक़ी है। उसका हाल यह हो जाए कि उसकी मालूमात थामे न थमे और उसकी बेताबी रोके न रुके। जब यह नौबत आ जाए, उस वक़्त आदमी को लिखने के लिए उठना चाहिए। इसके बग़ैर जो लोग लिखें, वे सिर्फ़ सफ़ेद काग़ज़ को सियाह करने का काम करेंगे और इसके बग़ैर जो लोग बोलें, वे सिर्फ़ फ़ज़ाई शोर-ओ-ग़ुल में इज़ाफ़े का बाइस होंगे। इस तरह का लिखना और बोलना न सुनने वालों को कोई फ़ायदा देता है और न सुनाने वालों को।

वाइज़ का वाज़ कोई खेल-तमाशा नहीं, वह बंदों के सामने ख़ुदा की नुमाइंदगी है। इस काम को करने का हक़ सिर्फ़ उस शख़्स को है, जो अपनी हस्ती को ख़ुदा में गुम कर दे। जो लोग इसके बग़ैर वाइज़ बनें, वे हक़ीक़तन मुजरिम हैं, न कि वाइज़।

फ़ुरक़ान का उसूल

क़ुरआन की एक आयत इन अलफ़ाज़ में आई है—

يا أَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا إِنْ تَتَّقُوا اللَّهَ يَجْعَلْ لَكُمْ فُرْقاناً.

"ऐ ईमान वालो, अगर तुम अल्लाह से डरोगे, तो वह तुम्हें फ़ुरक़ान अता करेगा।" (क़ुरआन, 8:29)

फ़ुरक़ान का लफ़्ज़ी मतलब है— 'फ़र्क़ करने वाला'। इब्न आशूर अल-ट्यूनिसी (वफ़ात : 1393 हिज्री) ने फ़ुरक़ान का मतलब इन अलफ़ाज़ में बयान किया है—

وَهُوَ مَا يُفَرِّقُ أَيْ يُمَيِّزُ بَيْنَ شَيْئَيْنِ مُتَشَابِهَيْنِ.

"वह सलाहियत, जो दो मिलती-जुलती चीज़ों के दरमियान फ़र्क़ करे।"

(तफ़्सीर अल-तहरीर व अल-तनवीर, जिल्द 9, सफ़्हा 326)

क़ाज़ी सना उल्लाह (वफ़ात : 1810 ईस्वी) ने फ़ुरक़ान का मतलब इन अलफ़ाज़ में बयान किया है—

بَصِيرَةٌ فِي قُلُوبِكُمْ تُفَرِّقُونَ بِهَا بَيْنَ الْحَقِّ وَالْبَاطِلِ.

"अल्लाह तुम्हारे दिलों को शऊर अता करेगा, जिससे तुम हक़ और बातिल में तमीज़ कर लोगे।"

(तफ़्सीर मज़हरी, जिल्द 4, सफ़्हा 54)

आज के अलफ़ाज़ में इसे क़ुव्वत-ए-तमीज़ (the art of differentiation) या मेयार कहा जा सकता है यानी वह सलाहियत, जिसकी रोशनी में इंसान ज़ाहिरी पहलुओं से धोखा खाए बग़ैर हर बात को उसके असल रूप में देख सके। वह इधर-उधर के मुग़ालतों में उलझे बग़ैर असल हक़ीक़त तक पहुँच जाए।

फ़ुरक़ान के मामले को दो असहाब-ए-रसूल के वाक़ये से समझा जा सकता है। वह वाक़या यह है—

عَنْ طَارِقِ بْنِ شِهَابٍ،يَقُولُ: كَانَ بَيْنَ خَالِدٍ وَسَعْدٍ كَلَامٌ، فَذَهَبَ رَجُلٌ يَقَعُ فِي خَالِدٍ عِنْدَ سَعْدٍ ، فَقَالَ: مَهْ إِنَّ مَا بَيْنَنَا لَمْ يَبْلُغْ دِينَنَا.

(हिलयतुल औलिया, जिल्द 1, सफ़्हा 94)

यानी तारिक़ बिन शिहाब रिवायत करते हैं कि ख़ालिद बिन वलीद और साद बिन अबी वक़्क़ास के दरमियान कुछ तक़रार हो गई। इसके बाद एक शख़्स हज़रत साद के पास आया और हज़रत ख़ालिद की बुराई करने लगा। इस पर हज़रत साद ने उससे कहा—

"दूर हो जाओ, हमारे दरमियान जो कुछ है, वह हमारे दीन तक नहीं पहुँचेगा।"

हज़रत साद की बात का मतलब यह है कि हमारे दरमियान जो इख़्तिलाफ़ है, इस बिना पर हम अपनी आख़िरत को बरबाद नहीं करेंगे। यही है फ़ुरक़ान की सलाहियत।

इस्तिक़ामत की सिफ़त

इस्तिक़ामत का मतलब है— ना-मुवाफ़िक़ हालात के बावजूद पूरी दिल-जमई से अपने मक़सद पर लगे रहना। यह सिफ़त दुनिया में इंसान की कामयाबी के लिए ज़रूरी है। असल यह है कि इंसान की ज़िंदगी में कोई मक़सद आता है, तो उसी के साथ दूसरे तक़ाज़े भी आते रहते हैं। ये दूसरे तक़ाज़े इंसान को उसके मक़सद से बार-बार भटकाते (distract) हैं। ऐसी हालत में इंसान की कामयाबी के लिए ज़रूरी है कि इंसान

अपने आपको 'डीरेल' होने से बचाए। जिस लाइन को इंसान ने बतौर-ए-मक़सद इख़्तियार किया है, वह उस लाइन से न हटे।

ज़िंदगी में कभी ऐसा नहीं होता कि आदमी को कामयाबी-ही-कामयाबी हासिल होती जाए। इंसान को बार-बार ऐसे तजुर्बात पेश आते हैं, जो उसके लिए ना-ख़ुशगवार तजुर्बात होते हैं। ये ना-ख़ुशगवार तजुर्बात आदमी को इस्तिक़ामत के रास्ते से हटाने की कोशिश करते हैं। ऐसी हालत में इस्तिक़ामत पर क़ायम रहने की सिर्फ़ एक ही तदबीर है— वह यह कि आदमी वक़्ती नुक़सान से बद-दिल न हो। वह वक़्ती नुक़सान के बावजूद अपने सोचे-समझे रास्ते पर क़ायम रहे।

इस्तिक़ामत का मतलब यह नहीं है कि आदमी को ज़िंदगी में सीधा रास्ता मिल जाए, जो मुड़े बग़ैर हमेशा सीधी सिम्त में चलता रहे। हमेशा ऐसा होगा कि ज़िंदगी में ना-मुवाफ़िक़ हालात पेश आएँगे, जो उसके रास्ते में रुकावटें पैदा करेंगे; मगर ये रुकावटें अपनी हक़ीक़त के एतिबार से रुकावट नहीं होंगी, बल्कि वे उसके लिए मज़ीद बेहतर अंदाज़ से मक़सद को समझने और मंज़िल की तरफ़ आगे बढ़ने का ज़रिया होंगी। अंग्रेज़ी ज़बान का एक मक़ूला है, जो ज़िंदगी की इस फ़ितरी हक़ीक़त को मज़ीद क़ाबिल-ए-फ़हम बनाता है—

> It is not ease, but effort; not facility, but difficulty, makes men.
>
> "आसानी नहीं, बल्कि जद्दोजहद; सहूलियत नहीं, बल्कि मुश्किलात इंसान को इंसान बनाती हैं।"

ग़लती का एतिराफ़

एक साहब जो बर-वक़्त बेरोज़गार हैं, उनसे यह पूछा गया कि आपकी ज़िंदगी का सबसे बड़ा मसला क्या है? उन्होंने जवाब दिया कि कोई

रोज़गार मिल जाए। उनका मामला यह है कि पहले वे एक बहुत अच्छी नौकरी में थे, मगर उन्होंने अपने ग़लत मंसूबे की वजह से उस जॉब को छोड़ दिया। इस वक़्त वे परेशानी के आलम में हैं।

मैं कहूँगा कि ज़िंदगी का सबसे बड़ा मसला है— अपनी ग़लती को न मानना। हक़ीक़त यह है कि ख़ालिक़ की इस दुनिया में हमेशा 'उस्र' (hardship) के साथ 'युस्र' (ease) मौजूद रहता है यानी मसले के साथ उसका हल; मगर इंसान बे-एतिराफ़ी के मिज़ाज की बिना पर अपनी ग़लती का एतिराफ़ करने के लिए तैयार नहीं होता, इसीलिए उसे मसले का हल भी नहीं मिल पाता।

गहराई के साथ ग़ौर कीजिए, तो इस दुनिया में मसला हमेशा ख़ुद अपनी ग़लती की बिना पर पैदा होता है। चूँकि आदमी यह मानने के लिए तैयार नहीं होता कि उसने ग़लती की है, इसीलिए मसले का हल भी उसे समझ में नहीं आता। अपनी ग़लती को मानना हमेशा मसले का हल होता है। अगर आदमी अपनी ग़लती को खुले दिल से मान ले, तो फ़ौरन मसले की शनाख़्त भी हो जाएगी और मसले का हल भी मालूम हो जाएगा।

अपनी ग़लती को न मानने का मतलब क्या है? अपनी ग़लती को न मानना इस बात की अलामत है कि आदमी खुले ज़ेहन के साथ सोचने के लिए तैयार नहीं। वह बंद ज़ेहन के साथ सोचता है। वह चाहता है कि उसे अपनी जगह से हटना भी न पड़े यानी अपनी ग़लती पर क़ायम रहे और उसे मसले का हल भी मिल जाए। ऐसा होना मुमकिन नहीं। आदमी को चाहिए कि वह पहले अपनी जगह से हटे, ताकि वह खुले ज़ेहन के साथ सोच सके और हक़ीक़त को जान सके। खुले ज़ेहन के साथ सोचना इस मामले में नया सफ़र शुरू करने के लिए पहला क़दम है। आदमी जब तक ग़लती पर क़ायम रहेगा, वह कभी भी अपने लिए सही राह-ए-अमल को दरियाफ़्त नहीं कर सकेगा।

कन्फ़्यूज़न क्यों?

लोगों की गुफ़्तगू सुनिए या उनकी तहरीर को पढ़िए, हमेशा ऐसा पाएँगे कि उनकी तक़रीर या तहरीर में वुज़ूह (clarity) नहीं होता। सारी गुफ़्तगू या सारी तहरीर को पढ़ डालिए, आपको उससे कोई 'टेक अवे' नहीं मिलेगा। इसका एक सबब यह है कि लोग अपनी ग़लती का एतिराफ़ नहीं करते। अगर पहले उन्होंने एक ग़लत बात कह दी थी, तो बाद में उसकी ग़लती का एतिराफ़ किए बग़ैर नई बात बोलने लगे। इस दोतरफ़ा बयान से उनकी बात में कोई वुज़ूह नहीं आ सकता। मसलन— अगर वे कल तक टकराव की पॉलिसी को चलाते रहे हैं और आज वे यह दावत दें कि सब्र करो, तो किसी को समझ में नहीं आएगा कि उनका सब्र क्या है। इस क़िस्म का दोहरा तर्ज़-ए-फ़िक्र हमेशा कन्फ़्यूज़न पैदा करता है। यही वजह है कि इस क़िस्म की बात सुनने या पढ़ने से किसी को कोई 'टेक अवे' नहीं मिलता।

कलाम में कन्फ़्यूज़न ज़्यादातर इसलिए पैदा होता है कि लोग अपनी ग़लती का एतिराफ़ किए बग़ैर एक और बात बोलने लगते हैं। अगर आप चाहते हैं कि आपके कलाम में वुज़ूह हो, आपके कलाम में लोगों को 'टेक अवे' मिले और आपके कलाम से लोगों के सामने राह-ए-अमल वाज़ेह हो, तो सबसे पहले अपनी ग़लती का एतिराफ़ कीजिए।

आम तौर पर ऐसा होता है कि लोग मुख़्तलिफ़ क़िस्म की बातें बोलते रहते हैं और उसके बाद चाहते हैं कि लोगों को एक सही बात की रहनुमाई दें। इस तरह की बात में लोगों को कभी वाज़ेह रहनुमाई नहीं मिलती। सही रहनुमाई देने के लिए आपको ऐसा करना पड़ेगा कि आप सही को सही कहें और ग़लत को ग़लत बताएँ। इस तरह के कलाम से लोगों के ज़ेहन में सही और ग़लत अलग-अलग हो जाएगा।

इसके बरअक्स अगर आप ऐसा करें कि सही में ग़लत मिलाएँ और ग़लत में सही मिलाएँ, तो आपके कलाम में लोगों को कभी वाज़ेह रहनुमाई नहीं मिलेगी। आपको ऐसा करना होगा कि आप ग़लत को ग़लत बताएँ, चाहे ऐसा करने में आपकी अपनी ज़ात ग़लत हो रही हो।

बयानिया अंदाज़

मुस्लिम अहले-इल्म की तहरीरों में आम तौर पर बयानिया उस्लूब का रिवाज है। बयानिया उस्लूब यह है कि आदमी ऐसी बात कहे, जो उसके अपने ज़ेहन की बात हो, लेकिन उसके ज़ेहन के बाहर उसका कोई वाक़यातीं मिस्दाक़ (proof) मौजूद न हो यानी दलील और शवाहिद को बताए बग़ैर कोई बात कहना। मसलन— यह कहना कि मुसलमान मौजूदा ज़माने में हर जगह 'महसूर हालत' (under siege) में ज़िंदगी गुज़ार रहे हैं।

इस सूरतेहाल पर मैंने ग़ौर किया, तो मुझे समझ में आया कि यह क़दीम शायराना उस्लूब का तसलसुल (extension) है। क़दीम ज़माने में सारी दुनिया में शायराना उस्लूब का रिवाज था। मौजूदा ज़माने में जब साइंटिफिक तरीक़ा राइज हुआ, तो इस उस्लूब का ख़ात्मा हो गया। इस बिना पर आज की दुनिया में 'शेर' (poetry) के बजाय 'नस्र' (prose) की अहमियत हो गई। इस हक़ीक़त को पहली बार मैंने उस वक़्त समझा, जबकि मैंने नीचे लिखी गई किताब पढ़ी, जो कि 1965 में शाए हुई थी—

The Great Intellectual Revolution

यह किताब जॉन फ्रेडरिक वेस्ट (John Frederick West) ने लिखी है। इस किताब का एक बाब यह था—

The Death of Metaphor

'तम्सीली उस्लूब का ख़ात्मा'!

(इसका तर्जुमा अक्टूबर, 1985 और दिसंबर, 2019 में 'अल-रिसाला' में इस उन्वान के तहत छप चुका है— अदबी इंक़लाब)

इसमें विलियम शेक्सपीयर (1564-1616) और जॉन मिल्टन (1608-1674) वग़ैरह का मुताला करके इस मामले को वाज़ेह किया गया है। मग़रिबी मुल्कों में इग़्ज़ैक्ट साइंस के रिवाज की बिना पर साइंटिफिक उस्लूब पर मबनी यह तहरीरी कल्चर की तरह राइज हो चुका है। साइंटिफिक उस्लूब सादा उस्लूब है। वह हक़ीक़त-निगारी का दूसरा नाम है यानी दलाइल व शवाहिद की बुनियाद पर दिया गया बयान। इसके बरअक्स मुस्लिम समाज में साइंटिफिक ज़ेहन न होने की वजह से बयानिया उस्लूब अभी तक किसी-न-किसी शक्ल में क़ायम है। बयानिया उस्लूब का मतलब है— दलाइल व शवाहिद से ख़ाली मफ़रूज़ा बयान यानी आदमी ऐसी बात कहे, जो मुदल्लल (well-grounded) न हो, बल्कि ख़्याली बात हो, जिसका हक़ीक़ी मिस्दाक़ उसके ज़ेहन के बाहर मौजूद न हो।

ख़ुशी क्या है?

ख़ुशी क्या है? ख़ुशी अपनी पसंद को हासिल करने का नाम नहीं है, बल्कि हालात को मैनेज करने का नाम है। आदमी चाहता है कि हालात की रफ़्तार उसकी मर्ज़ी के मुताबिक़ हो जाए। ऐसा कभी नहीं हो सकता है। हालात हमेशा ख़ुदा की वसीअतर मंसूबा-बंदी के तहत पेश आते हैं। आदमी के लिए चॉइस यह है कि वह अल्लाह रब्बुल आलमीन

की मंसूबा-बंदी को दरियाफ़्त करे और अपने आपको उसके मुताबिक़ एडजस्ट करे। इंसान अगर ऐसा करे, तो उसे हर सूरतेहाल में ख़ुशी हासिल होगी और अगर वह ऐसा न करे, तो वह हमेशा परेशानी में मुब्तला रहेगा।

ख़ुशी अपने मतलूब को पाने का नाम नहीं है, बल्कि पाई हुई चीज़ में अपने मतलूब को दरियाफ़्त करने का नाम है। आदमी के लिए हर चीज़ ख़ुशी का सबब बन सकती है, बशर्ते कि वह नामुमकिन को छोड़कर मुमकिन में अपनी ख़ुशी को दरियाफ़्त कर ले यानी ख़ुशी का हुसूल इस तरह मुमकिन नहीं है कि नामुमकिन को हर क़ीमत पर हासिल करने की कोशिश की जाए, ख़्वाह इसके लिए क़ुर्बानी की सतह पर अमल करना पड़े, बल्कि ख़ुशी का राज़ एडजस्टमेंट में है। ख़ुशी का राज़ 'री-प्लानिंग' के तरीक़े को इख़्तियार करने में है।

अस्ल यह है कि कोई भी शख़्स जिससे आप मिलें, अगर आप उसे कुरेदकर देखें कि अपने अंदर वह कैसा है, तो मालूम होगा कि वह किसी-न-किसी ग़ैर-हासिल-शुदा चीज़ का ग़म लिये हुए है। यह बात इतनी ज़्यादा आम है कि इसमें शायद किसी का इस्तिस्ना न हो। फ़ितरत के क़ानून के मुताबिक़ ग़ैर-हासिल-शुदा चीज़ का ग़म बे-सूद है। सही यह है कि आदमी के लिए जो नामुमकिन-उल-हुसूल है, वह उसे पाने की कोशिश न करे; बल्कि उसे पाने की कोशिश करे, जो नतीजा-ख़ेज़ हो। जो इंसान इस तरीक़े को इख़्तियार करे, वही वह आदमी है, जिसने खोने के बावजूद पा लिया। ख़ुशी फ़ितरत के निज़ाम से एडजस्ट करने का नाम है, न कि फ़ितरत के निज़ाम को अपने मुवाफ़िक़ बनाने का। ख़ुशी एक लफ़्ज़ में मिले हुए पर क़नाअत (contentment) करने का नाम है।

बे-इत्मिनानी का सबब

टाटा इंडस्ट्री के चेयरमैन मिस्टर रतन टाटा (पैदाइश : 1937) ने लंबी कोशिश के बाद 2008 में एक नई छोटी कार बनाई है। इस कार का नाम नैनो (Nano) है। इसकी क़ीमत सिर्फ़ एक लाख रुपये है। इसे दुनिया की सबसे सस्ती कार कहा जाता है।

नई दिल्ली (प्रगति मैदान) में इस कार की नुमाइश की गई, तो इसे देखने के लिए बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई, मगर अजीब बात है कि मिस्टर रतन टाटा ने बज़ाहिर बे-शुमार नए लोगों के लिए सस्ती कार की शक्ल में एक पुर- मुसर्रत तोहफ़ा दिया, लेकिन ख़ुद रतन टाटा को रूहानी ख़ुशी हासिल नहीं। टाइम्स ऑफ़ इंडिया (11 जनवरी, 2008) की रिपोर्ट के मुताबिक़, उन्होंने कहा—

"मैं अपने आपको अपनी ज़िंदगी के बहुत ज़्यादा तनहाई के दौर में पाता हूँ।"

I am in a very lonely phase of my life. (p. 1)

यह कोई इनफ़िरादी मिसाल नहीं। यही उन तमाम लोगों की कहानी है, जो अपनी सारी तवानाई माद्दी चीज़ों के हुसूल में लगा देते हैं। जो इस तरह रहते हैं गोया ज़िंदगी का मक़सद माद्दी तरक़्क़ी के सिवा और कुछ नहीं। ऐसे लोग जब अपनी उम्र के आख़िरी हिस्से में पहुँचते हैं, तो उन्हें महसूस होता है कि बज़ाहिर माद्दी कामयाबी हासिल करने के बावजूद उन्हें अंदरूनी ख़ुशी हासिल नहीं। वे इसी तरह जीते हैं, यहाँ तक कि मायूसी की हालत में मर जाते हैं।

इसका सबब यह है कि इंसान की रूह के लिए सबसे ज़्यादा रब्बानी ग़िज़ा की ज़रूरत है। सिर्फ माद्दी ग़िज़ा इंसान की फ़ितरत को एड्रेस नहीं

करती। बज़ाहिर ख़ुश-ख़ुराक़ी के बावजूद उसकी दाख़िली शख़्सियत रूहानी फाक़े (spiritual starvation) में मुब्तला रहती है। यही वह हक़ीक़त है, जिसे क़ुरआन में इन अलफ़ाज़ में बयान किया गया है—

أَلَا بِذِكْرِ اللَّهِ تَطْمَئِنُّ الْقُلُوبُ.

"सुन लो कि अल्लाह की याद ही से दिलों को इत्मिनान हासिल होता है।" (13:28)

(अल-रिसाला; दिसंबर, 2008, सफ़्हा 36)

मौत का सफ़र

इंडिया के टाटा ग्रुप का बिज़नेस एंपायर 150 से ज़्यादा ममालिक में फैला हुआ है। 9 अक्टूबर, 2024 को इंडिया के तक़रीबन सभी न्यूज़ पोर्टल्स ने एक बर्निंग न्यूज़ यह दी थी कि मारूफ़ बिज़नेस मैन और टाटा ग्रुप के साबिक़ चेयरमैन रतन टाटा का 86 साल की उम्र में मुंबई के ब्रीच कैंडी हॉस्पिटल में इंतक़ाल हो गया। न्यूज़ एजेंसी रॉयटर की वेबसाइट पर दर्ज नीचे दी गई हैडलाइन के साथ यह ख़बर दी गई थी—

Ratan Tata put India's Tata Group on the global map!

Oct 9 (Reuters) - Ratan Tata, the former Tata Group chairman who put a staid and sprawling Indian conglomerate on the global stage with a string of high-profile acquisitions, has died, the Tata Group said in a statement late on Wednesday. He was 86. Tata, who ran

the conglomerate for more than 20 years as chairman, had been undergoing intensive care in a Mumbai hospital, two sources with direct knowledge of his medical situation told Reuters earlier on Wednesday. (9 Oct, 2024)

सोशल मीडिया पर उनकी आख़िरी उम्र की कई वीडियोज़ मौजूद हैं, जिनमें वे पहले से बहुत ज़्यादा कमज़ोर दिखाई दे रहे हैं। इंसानी ज़िंदगी पर ग़ौर कीजिए, तो हर औरत और हर मर्द की यही कहानी है— बचपन, जवानी, बुढ़ापा और आख़िर में मौत। मिस्टर टाटा की मौत की ख़बर गोया हर औरत और हर मर्द के लिए उसके अपनी मौत की ख़बर है। हर इंसान पर यह लम्हा यक़ीनी तौर पर आता है, जबकि मौत का फ़रिश्ता उसके पास आता है और कहता है कि ऐ इंसान, तुम्हें इस दुनिया में सिर्फ़ '86' साल जीना था, यह मुद्दत पूरी हो चुकी। अब तुम्हें एक और दुनिया में जाना है, जहाँ तुम हमेशा रहोगे। अभी तुम्हारी ज़िंदगी का सिर्फ़ टेस्ट पीरियड ख़त्म हुआ है और अब ज़िंदगी का दूसरा अस्ल दौर शुरू हो रहा है। हर इंसान को यह मालूम है कि मौत से पहले के दौर-ए-हयात में उसे अपनी कामयाबी के लिए क्या करना है, मगर यह बात कोई शख़्स नहीं जानता कि मौत के बाद के दौर-ए-हयात के लिए भी उसे तैयारी करनी चाहिए, जो वहाँ की अबदी ज़िंदगी में उसके काम आए, लेकिन अजीब बात है कि यही वह मसला है, जिससे हर इंसान बेख़बर है। वह दुनिया की नाकामी से बचने के लिए तो सब कुछ करता है, लेकिन अबदी नाकामी से बचने के लिए वह कुछ नहीं करता।

डॉक्टर फ़रीदा ख़ानम

मुताला-ए-हदीस

शरह मिश्कातुल मसाबीह (हदीस नंबर 158-162)

अबू हुरैरा रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> "जिसने हिदायत की तरफ़ बुलाया, उसे भी उतना ही अज्र मिलेगा, जितना उन लोगों को, जिन्होंने उसकी पैरवी की और इससे उन लोगों के सवाब में ज़रा भी कमी न होगी और जिसने गुमराही की तरफ़ बुलाया, उसपर भी उतना ही गुनाह होगा, जितना कि उन लोगों पर, जिन्होंने उसकी पैरवी की और इससे उन लोगों के गुनाह में कोई कमी न होगी।"
>
> (सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 2674)

तशरीह : आदमी अगर ख़ुद कोई नुक़्ता-ए-नज़र इख़्तियार करे, तो ऐसी हालत में उसकी ज़िम्मेदारी सिर्फ़ उसकी ज़ात तक महदूद रहती है, लेकिन जब वह अपने नुक़्ता-ए-नज़र का ऐलान-ए-आम करके उसे दूसरों तक पहुँचाए, तो उसकी ज़िम्मेदारी बहुत ज़्यादा वसीअ हो जाती है। अगर वह एक सही नुक़्ता-ए-नज़र की इशाअत कर रहा है, तो उसके ज़रिए जिन लोगों की इस्लाह होगी, उन सबका सवाब उसे भी पहुँचता रहेगा। इसके बरअक्स अगर वह ग़लत नुक़्ता-ए-नज़र की इशाअत करे, तो उसके ज़रिए जितने लोग गुमराह होंगे, उन सबकी गुमराही भी उसके ख़ाने में लिखी जाती रहेगी। आदमी को ज़ाती ज़िंदगी में भी मोहतात होना चाहिए, लेकिन अगर वह दूसरों को रहनुमाई देने के लिए खड़ा हो, तो उसे मज़ीद इज़ाफ़े के साथ मोहतात होना चाहिए, क्यूँकि अब उसकी ज़िम्मेदारी हज़ारों गुना हद तक ज़्यादा हो चुकी है।

अबू हुरैरा रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> "इस्लाम शुरू हुआ, तो वह अजनबी था और फिर वह वैसा ही हो जाएगा, जैसा कि वह शुरू हुआ था। पस ख़ुशखबरी है अजनबियों के लिए।" (सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 145)

तशरीह : क़दीम अरब के लोग अपने अकाबिर के दीन पर थे। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने जब उनके सामने दीन-ए-ख़ुदा को पेश किया, तो उन्हें दीन-ए-अकाबिर के मुक़ाबले में दीन-ए-ख़ुदा अजनबी मालूम हुआ। हदीस की पेशीनगोई के मुताबिक़, बाद के ज़माने में ख़ुद उम्मत के अंदर भी यही सूरत पेश आने वाली है।

बिगाड़ के ज़माने में ऐसा होता है कि ख़ुदा व रसूल वाला दीन गुम हो जाता है और दीन की दूसरी-दूसरी शक्लें राइज हो जाती हैं। मसलन— क़ौमी दीन, बरकत वाला दीन, रस्म-ओ-रिवाज वाला दीन, आबाई फ़ख़्र वाला दीन। लोग दीन की इन्हीं ख़ुद-साख़्ता शक्लों से मानूस होते हैं। ऐसी हालत में जब उनके सामने ख़ालिस ख़ुदाई दीन पेश किया जाता है, तो यह दीन-ए-ख़ुदा दोबारा उन्हें उसी तरह अजनबी मालूम होता है, जिस तरह वह क़दीम ज़माने के लोगों को अजनबी दिखाई देता था। चुनाँचे वे ख़ुदा और रसूल वाले दीन को अजनबी समझकर उसे मानने से इनकार कर देते हैं।

इस दौर-ए-अजनबियत में जो लोग ख़ालिस दीन-ए-ख़ुदा को पहचानें और उसका साथ दें, वे बहुत ख़ुशक़िस्मत लोग हैं, क्योंकि उन्होंने उस वक़्त मारिफ़त की सतह पर दीन को दरियाफ़्त किया, जबकि दूसरे लोग सिर्फ़ रिवाज की सतह पर दीन को पाए हुए थे।

अबू हुरैरा रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> "ईमान मदीना की तरफ़ इस तरह सिमट आएगा, जिस तरह साँप अपने बिल की तरफ़ सिमट आता है।"
> (मुत्तफ़क़ अलैह : सहीह बुख़ारी, हदीस नंबर 1876; सहीह मुस्लिम, हदीस नंबर 147)

तशरीह : शायद यह ख़ुदा का मंसूबा है कि दीन की क़द्रें जब दूसरी जगह मिट रही हों, उस वक़्त भी वे मदीना (वसीअतर मअनों में हिजाज़) में मौजूद रहें। हिजाज़ को अल्लाह ने अबदी तौर पर मरकज़-ए-इस्लाम की हैसियत दे दी है। बाद के ज़माने में जबकि ज़मीन के दूसरे हिस्सों में ग़ैर-इस्लामी तहज़ीब का ग़लबा हो जाएगा, उस वक़्त भी हिजाज़ में किसी-न-किसी दर्जे में इस्लाम की मरकज़ियत बाक़ी रहेगी। ऐसा ग़ालिबन इसलिए होगा कि हिजाज़ में इस्लाम की दो सबसे बड़ी इबादतगाहें वाक़े हैं यानी काबतुल्लाह और मस्जिद-ए-नबवी।

रबीअह अल-जुरशी रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के पास आने वाला आया। फिर आपसे कहा गया— "आपकी आँखें सोती रहीं, आपके कान सुनते रहे और दिल समझता रहा।" आपने फ़रमाया— "फिर मेरी आँखें सो गईं और मेरे दोनों कानों ने सुना और मेरे दिल ने (इसे) समझा।" आपने फ़रमाया कि मुझसे यह (मिसाल) बयान की गई— "एक मालिक ने घर बनाया। उसने वहाँ एक दस्तरख़्वान तैयार किया और बुलाने वाले को भेजा, तो जिसने बुलाने वाले की दावत क़ुबूल की, वह घर में दाख़िल हुआ और दस्तरख़्वान से खाया और मालिक उससे ख़ुश हुआ; मगर जिसने बुलाने वाले की दावत क़ुबूल न की, वह न घर में दाख़िल हुआ, न

उसने दस्तरख़्वान से खाया। चुनाँचे मालिक उससे नाराज़ हुआ।" आपने फ़रमाया कि मालिक से मुराद अल्लाह है, बुलाने वाले से मुराद मुहम्मद हैं, घर से मुराद इस्लाम है और दस्तरख़्वान से मुराद जन्नत है।

(सुनन अल-दारिमी, हदीस नंबर 11)

तशरीह : इंसान अपने मिज़ाज के एतिबार से अबदी ज़िंदगी चाहता है, लेकिन सौ साल के अंदर ही यह वाक़या पेश आता है कि हर औरत और मर्द अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ इस दुनिया को हमेशा के लिए छोड़कर चले जाते हैं। ज़मीन पर पैदा होने वाला हर इंसान दो चीज़ों का तजुर्बा करता है— पहले ज़िंदगी का तजुर्बा और उसके बाद मौत का तजुर्बा। इस क़ानून-ए-फ़ितरत से किसी को इस्तिस्ना हासिल नहीं। अगर इंसान संजीदगी के साथ इन वाक़यात पर सोचे, तो वह यक़ीनी तौर पर एक बहुत बड़ी हक़ीक़त को दरियाफ़्त करेगा। वह यह कि इंसान को पैदा करके इस ज़मीन पर आबाद करना बतौर इनाम नहीं है, बल्कि वह बतौर इम्तिहान है। मौजूदा दुनिया में इंसान अपने आपको आज़ाद महसूस करता है। यह आज़ादी इसलिए है, ताकि यह मालूम किया जाए कि कौन शख़्स अपनी आज़ादी का सही इस्तेमाल करता है और कौन शख़्स अपनी आज़ादी का ग़लत इस्तेमाल करता है। कौन शख़्स बा-उसूल ज़िंदगी गुज़ारता है और कौन शख़्स बे-उसूल ज़िंदगी का तरीक़ा इख़्तियार करता है। इस हदीस में तम्सील की ज़बान में इसी मामले को बताया गया है। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम के ज़रिए अल्लाह ने कामिल हिदायत का इंतज़ाम फ़रमाया। अब जो लोग इस हिदायत की रोशनी में अपनी आज़ादी का दुरुस्त इस्तेमाल करेंगे, उनके लिए कामयाबी है और जो लोग इसकी पैरवी न करें, वे अबदी नाकामी का शिकार होकर रह जाएँगे।

अबू राफ़े रज़ियल्लाहु अन्हु कहते हैं कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

> "मैं तुममें से किसी को इस हाल में न पाऊँ कि वह अपने तख़्त पर तकिया लगाए हुए हो, उसके सामने मेरे अहकाम में से कोई हुक्म आए, जिसका मैंने हुक्म दिया है या जिससे मैंने मना किया है। फिर वह कहे कि मैं नहीं जानता, जो कुछ हमने अल्लाह की किताब में पाया, उसी की हमने पैरवी की।"
> (मुस्नद अहमद, हदीस नंबर 23876; सुनन अल-तिर्मिज़ी, हदीस नंबर 2663; सुनन अबू दाऊद, हदीस नंबर 4605; सुन्नन इब्न माजा, हदीस नंबर 13)

तशरीह : क़ुरआन की हैसियत बुनियादी उसूल की है। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने इस बुनियादी रब्बानी उसूल की तरफ़ लोगों को बुलाया और उसे क़ायम फ़रमाया। इस तरह आपकी ज़िंदगी क़ुरआन की अमली तशरीह बन गई। यही वजह है कि ख़ुद क़ुरआन को समझने के लिए रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की सुन्नत को जानना लाज़िमी तौर पर ज़रूरी है।

दीन में सिर्फ़ क़ुरआन की हैसियत 'हुज्जत' (authoritative source) की है या हदीस-ए-रसूल भी दीन में यकसाँ दर्जे में हुज्जत की हैसियत रखती है। यह एक ख़ालिस क़ानूनी मसला है। अमली एतिबार से जिस चीज़ की अहमियत है, वह यह है कि आदमी के अंदर इस्लाम की रूह ज़िंदा हो। दीन पर अमल करने की तड़प उसके अंदर पैदा हो गई हो। अल्लाह से मोहब्बत और अल्लाह का ख़ौफ़ उसके दिल में भरपूर तौर पर 'जागुज़ीं' (firmly settled) हो गया हो। जिन लोगों के अंदर इस्लाम की यह स्पिरिट पैदा हो जाए, वह किसी क़ानूनी फ़तवे के बग़ैर पूरी तरह इस्लाम को इख़्तियार कर लेंगे और जिन लोगों के अंदर इस्लाम की रूह बेदार न हुई हो, उनके लिए कोई भी क़ानूनी फ़तवा

अमली बेदारी का ज़रिया नहीं बन सकता। एक शख़्स क़ुरआन को दीन में हुज्जत मानता हो, लेकिन उसके अंदर दीन की स्पिरिट मौजूद न हो, तो वह ख़ुद क़ुरआन के अहकाम पर भी अमल नहीं करेगा। क़ुरआन के बारे में वह बड़ी-बड़ी बहसें करेगा, लेकिन उसकी हक़ीक़ी ज़िंदगी क़ुरआन की तालीमात से ख़ाली होगी। हक़ीक़त यह है कि इस मामले में असल मसला हदीस की हुज्जत को मंतिक़ी तौर पर साबित करना नहीं है, बल्कि असल ज़रूरत यह है कि हदीस की दीनी अहमियत और फ़ायदेमंदी को आदमी के दिल में इस तरह उतार दिया जाए कि वह उससे इनहिराफ़ का तहम्मुल न कर सके।

दीन में आसानी

क़ुरआन (2:185) में बताया गया है कि अल्लाह तुम्हारे लिए आसानी चाहता है, वह तुम्हारे साथ सख़्ती करना नहीं चाहता (يُرِيدُ اللَّهُ بِكُمُ الْيُسْرَ وَلَا يُرِيدُ بِكُمُ الْعُسْرَ)। दूसरी जगह (22:78) फ़रमाया कि अल्लाह ने तुम्हारे ऊपर दीन में कोई तंगी नहीं रखी (وَمَا جَعَلَ عَلَيْكُمْ فِي الدِّينِ مِنْ حَرَجٍ)।

हदीस में है कि रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया—

إِنَّ هَذَا الدِّينَ يُسْرٌ.

"यह दीन आसान है।"

(सुनन निसाई, हदीस नंबर 5034)

आपने फ़रमाया—

إِنَّ خَيْرَ دِينِكُمْ أَيْسَرُهُ.

"तुम्हारा बेहतर दीन वह है, जो आसान हो।"
(मुस्नद अहमद, हदीस नंबर 15936)

आपने नसीहत करते हुए फ़रमाया—

يَسِّرُوا وَلَا تُعَسِّرُوا.

"तुम लोग आसानी पैदा करो, लोगों को मुश्किल में न डालो।"
(सहीह अल-बुख़ारी, हदीस नंबर 69)

इसीलिए फ़िक़्ह में शरीयत के बारे में यह उसूली मसला बयान किया गया है कि मशक़्क़त आसानी लाती है। इस उसूल पर तमाम फ़ुक़्हा का इत्तिफ़ाक़ है। मसलन— हनफ़ी आलिम इब्न नुजैम (वफ़ात : 970 हिज्री) ने उसूल-ए-फ़िक़्ह पर अपनी किताब 'अल-अशबाह व अल-नज़ाइर' में एक बहस का उन्वान यह रखा है— الْقَاعِدَةُ الرَّابِعَةُ: الْمَشَقَّةُ تَجْلُبُ التَّيْسِيرَ चौथा क़ायदा : मशक़्क़त आसानी लाती है।

इसका मतलब यह नहीं है कि दीन बज़ात-ए-ख़ुद कोई सहूलियतों और आसानियों का मजमूआ है। इसका असल मतलब यह है कि दीन के रास्ते में जब हालात के तहत कोई मशक़्क़त की सूरत पैदा हो जाए, तो वहाँ लोगों को मशक़्क़त में नहीं धकेला जाएगा, बल्कि उनके लिए आसानी पैदा करने की कोशिश की जाएगी। इसी उसूल के तहत बीमारी में वुज़ू के बजाय तयम्मुम है। सख़्त बारिश में मस्जिद के बजाय घर में नमाज़ पढ़ने की इजाज़त है। सफ़र में रोज़ा छोड़ देना है वग़ैरह।

यही उसूल इज्तिमाई ज़िंदगी के लिए भी है यानी दीन में आसानी का यह उसूल सिर्फ़ फ़र्द के लिए नहीं है, वह जमात और क़ौम के लिए भी है। जिस तरह इनफ़िरादी मामलात में मुश्किल पेश आने की सूरत में फ़र्द के लिए शरीयत का हुक्म नरम कर दिया जाता है, उसी तरह जमात के लिए भी सख़्त हालात में शरीयत अपने तक़ाज़े को नरम कर देती है।

मसलन— शरीयत का कोई अमल, जिसे इज्तिमाई सूरत में अलल-ऐलान करना मतलूब हो, लेकिन अगर हालात ऐसे हों कि हाई प्रोफाइल में काम करने से नुक़सान का अंदेशा हो, वहाँ लो प्रोफाइल को इख़्तियार करने का हुक्म है।

दीनी मक़सद के लिए इक़दाम करना बजाय ख़ुद सवाब का एक अमल है, मगर जहाँ ऐसी सूरतेहाल पैदा हो जाए कि क़दम उठाना मौत की तरफ़ छलाँग लगाने के हम-मअनी हो, वहाँ शरीयत का हुक्म बदल जाएगा। अब आगे बढ़ने के बजाय एराज़ (avoidance) अहले-इस्लाम के लिए शरीयत का मतलूब अमल बन जाएगा।

इसी तरह एक मुआशरा है, जहाँ सियासी इस्लाह की ज़रूरत है, लेकिन हालात बताते हैं कि अगर सियासी तब्दीली को निशाना बनाकर तहरीक चलाई जाए, तो हलाकत की सूरत पेश आ जाएगी, तो ऐसे मुआशरे में लोगों को हलाकत में डालने के बजाय ख़ुद हुक्म को बदल दिया जाएगा। अब वहाँ यह मतलूब हो जाएगा कि सियासी इंक़लाब के महाज़ से हटकर इनफ़िरादी इस्लाह के मैदान में पुर-अम्न कोशिशें की जाएँ।

इसी तरह एक मौक़ा जहाँ ऐलान व इज़हार एक शरई मतलूब नज़र आता है, मगर इसी के साथ यह भी मुमकिन है कि अगर लाउडस्पीकर की पुर-शोर तक़रीर का तरीक़ा इख़्तियार किया जाए, तो समाज में इसका मनफ़ी रद्दे-अमल होगा और अहले-इस्लाम के लिए शदीदतर हालात पैदा हो जाएँगे। ऐसी हालत में शोर वाला अमल साक़ित हो जाएगा और शरीयत का तक़ाज़ा हो जाएगा कि ख़ामोश तदबीर का अंदाज़ इख़्तियार करके अपना मक़सद हासिल किया जाए। इसे फ़ुक़्हा ने बतौर उसूल इन अलफ़ाज़ में बयान किया है—

دَرْءُ الْمَفَاسِدِ أَوْلَى مِنْ جَلْبِ الْمَصَالِحِ.

"नुक़सानात को रोकना फ़ायदा हासिल करने से ज़्यादा अहम है।"
(अल-मुवाफ़क़ात, अल-शातिबी, जिल्द 5, सफ़्हा 300)

इस क़िस्म की बातों की तरफ़ एक हदीस-ए-रसूल में इन अलफ़ाज़ में रहनुमाई की गई है। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने कहा— "मोमिन के लिए यह जायज़ नहीं कि वह अपने आपको ज़लील करे।" (لَا يَنْبَغِي لِلْمُؤْمِنِ أَنْ يُذِلَّ نَفْسَهُ)। सहाबा ने पूछा— "कोई शख़्स अपने आपको किस तरह ज़लील करता है?" आपने कहा— "किसी ऐसे मुश्किल काम में वह पड़ जाए, जिससे निपटने की उसमें ताक़त न हो।" (يَتَعَرَّضُ مِنَ الْبَلَاءِ لِمَا لَا يُطِيقُ)।

(सुनन तिर्मिज़ी, हदीस नंबर 2254)

'उस्र' से बचना और 'युस्र' का तरीक़ा इख़्तियार करना यह है कि बक़्त-ए-अमल यह देखा जाए कि मौजूदा हालात में क्या चीज़ मुमकिन है और क्या चीज़ मुमकिन नहीं है और फिर मुमकिन दायरे में अपनी क़ुव्वतों को सर्फ़ किया जाए, न कि नामुमकिन दायरे में सिर टकराकर मज़ीद अपने नुक़सान में इज़ाफ़ा कर लिया जाए।

डायरी : 1986

17 जून, 1986

मौजूदा ईसाइयत का बुनियादी अक़ीदा यह है कि इंसान पैदाइशी तौर पर गुनाहगार है। इंसान का पैदाइशी गुनाहगार होना और ख़ुदा के बेटे का मस्लूब होकर उसका कफ़्फ़ारा बनना, यही वह ख़ास अक़ीदा है, जिस पर मौजूदा ईसाइयत खड़ी हुई है। पिछले डेढ़ हज़ार बरस से वह इसी की तब्लीग़ करती रही है, मगर इस अक़ीदे की कोई अस्ल

आसमानी तालीमात में मौजूद नहीं, हत्ता कि ख़ुद बाइबल में भी नहीं। मौजूदा मुहर्रिफ़ बाइबल भी इस अक़ीदे से ख़ाली है।

कैथोलिक चर्च के एक जर्मन आलिम रेवरेंड हर्बर्ट हाग़ ने एक किताब लिखी है—

Rev Herbert Haag: Is Original Sin in Scripture, New York, 1969

इस किताब में उन्होंने लिखा है कि ईसाई तारीख़ का मुताला बताता है कि इब्तिदाई ज़माने के ईसाइयों में तीसरी सदी ईस्वी तक इस अक़ीदे का कोई सुराग़ नहीं मिलता कि इंसान पैदाइशी गुनाहगार है। इब्तिदाई तीन सदियों के बाद यह अक़ीदा ईसाइयत में दाख़िल हुआ। शुरू-शुरू में जब बाज़ ईसाइयों ने यह नज़रिया पेश किया, तो 200 साल तक यह हाल रहा कि ईसाई उलमा इसे मानने से इनकार करते रहे। आख़िरकार सेंट ऑगस्टीन (430-304 ईस्वी) ने यूनानी मंतिक़ के ज़ोर पर, न कि हज़रत मसीह की तालीमात के ज़ोर पर, इस अक़ीदे को एक बुनियादी मसीही अक़ीदे के तौर पर मसीहियत में दाख़िल कर दिया। इस अक़ीदे का ख़ुलासा यह था कि आदम ने शजर-ए-ममनूआ (the Forbidden Tree in heaven) का फल खाकर जो गुनाह किया था, वह गुनाह उन्हीं पर ख़त्म नहीं हुआ, बल्कि पूरी नस्ल-ए-इंसानी ने उसका वबाल विरासत में पाया है और अब इंसान के लिए इसके सिवा कोई रास्ता नहीं कि वह मसीह के कफ़्फ़ारे के ज़रिये नजात हासिल करे।

18 जून, 1986

मौलाना शब्बीर अहमद उस्मानी सूरह अन-नज्म की तफ़्सीर के तहत लिखते हैं—

“अंबिया अलैहिमुस्सलाम आसमान-ए-नुबूवत के सितारे हैं, जिनकी रोशनी और रफ़्तार से दुनिया की रहनुमाई होती है और जिस

तरह तमाम सितारों के ग़ायब होने के बाद रोशन सूरज निकलता है, ऐसे ही तमाम अंबिया के बाद पैग़ंबर मुहम्मद का सूरज अरब से निकला।"

(सफ़हा 682)

मिसाल के ज़रिये इस्तिदलाल कितना ग़लत होता है, इसकी एक मिसाल मज़कूरा बाला इक़्तिबास (quotation) है। इल्म-ए-अफ़लाक (Astronomy) की रौ से सितारे कभी ग़ायब नहीं होते, बल्कि हर वक़्त मौजूद रहते हैं। इसी तरह सूरज सबसे बड़ा और सबसे ज़्यादा रोशन सितारा नहीं है। इससे बहुत ज़्यादा बड़े और चमकते सितारे आसमान में मौजूद हैं। इस्तिदलाल हमेशा वाक़यात-ओ-हक़ाइक़ की बुनियाद पर होना चाहिए, न कि तम्सीलात की बुनियाद पर। किसी ने सही कहा है—

"Analogy is the weakest form of argument."

19 जून, 1986

काउंसिल फॉर द वर्ल्ड्स रिलिजंस (न्यूयॉर्क) के तहत बंगलौर में एक मुख़्तलिफ़ मज़ाहिब कॉन्फ्रेंस हुई। इसकी तारीख़ 26-30 जून, 1986 है। इस कॉन्फ्रेंस में मुझे भी मदऊ किया गया है। कॉन्फ्रेंस के लिए मेरे पेपर का उन्वान है—

Missionary Ethics

तफ़्सीली प्रोग्राम के मुताबिक़ इस कॉन्फ्रेंस में मुझे डॉक्टर राजेंद्र वर्मा के पेपर का रेस्पोंडेंट बनाया गया था। डॉक्टर वर्मा ऑक्सफोर्ड के तालीम-याफ़्ता हैं और आजकल दिल्ली में रहते हैं। कल उनका टेलीफ़ोन आया। मैंने कहा कि मेरा टिकट तो आ गया है, मगर मेरा इरादा बंगलौर जाने का नहीं है। डॉक्टर वर्मा ने कहा कि आपको ज़रूर चलना चाहिए। इसके बाद आज सुबह 10 बजे वे ख़ुद हमारे दफ़्तर (निज़ामुद्दीन) में आए।

इस सिलसिले में बड़ा अजीब वाक़या हुआ। कल जब डॉक्टर वर्मा का टेलीफ़ोन आया, तो मैं बिलकुल नहीं जानता था कि डॉक्टर वर्मा कौन हैं, मगर टेलीफ़ोन की मुख़्तसर गुफ़्तगू के बाद मेरा ज़ेहन अचानक एक शख़्स की तरफ़ चला गया, जिनसे मैं सात महीने पहले मिला था।

न्यूयॉर्क जाते हुए मुंबई एयरपोर्ट पर एक साहब से मेरी मुलाक़ात हुई थी। यह 14 नवंबर, 1985 का वाक़या है। यह मुलाक़ात बस एयरपोर्ट पर चलते हुए एक-दो मिनट की थी। उनके चेहरे का एक अक्स मेरे ज़ेहन में था। टेलीफ़ोन की गुफ़्तगू के बाद अचानक मेरे दिल ने कहा कि ये वही शख़्स हैं, जिनसे बंबई एयरपोर्ट पर थोड़ी देर के लिए मुलाक़ात हुई थी। विजदानी (intuitive) तौर पर मैंने टेलीफ़ोन की आवाज़ में और एयरपोर्ट पर देखे हुए चेहरे में एक मुशाबहत महसूस की।

आज सुबह दस बजे जब वे मेरे दफ़्तर में दाख़िल हुए, तो मालूम हुआ कि टेलीफ़ोन पर बोलने वाली आवाज़ ऐन उन्हीं साहब की थी, जिन्हें मैंने सात माह पहले बंबई एयरपोर्ट पर देखा था।

अल्लाह ने दिमाग़ को भी कैसा अजीब कंप्यूटर बनाया है।

20 जून, 1986

जनाब नसीम अली ख़ाँ साहब से आज दफ़्तर में मुलाक़ात हुई। वे मुंबई में रहते हैं। उनसे मैंने बताया कि मुंबई के एक साहब का ख़त तक़रीबन छह माह पहले आया था। इसमें उन्होंने लिखा था कि अंग्रेज़ी 'अल-रिसाला' ज़बान व बयान की ख़ूबियों से यकसर महरूम है, हत्ता कि उन्होंने अंग्रेज़ी 'अल-रिसाला' की ख़रीदारी भी बंद कर दी।

उन्हें मैंने लिखा कि आप मिसाल के ज़रिए अपनी बात को वाज़ेह फ़रमाएँ यानी अंग्रेज़ी 'अल-रिसाला' का कोई मत्बूआ (published) पैराग्राफ़ लेकर निशानदेही करें कि इसमें ज़बान की या बयान की कौन-

सी ख़राबी है, मगर उनका कोई जवाब नहीं आया। इस दौरान याददहानी के कई ख़ुतूत लिखे गए, मगर अभी तक जवाब से महरूमी है।

नसीम अली ख़ाँ साहब ने बताया कि मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ और इस ख़त-ओ-किताबत से भी वाक़िफ़ हूँ। क़िस्सा यह है कि आपका ख़त मिलने के बाद उन्होंने अंग्रेज़ी 'अल-रिसाला' का एक परचा आर.एस.एस. के मुंबई यूनिट के सेक्रेटरी को दिया और कहा कि इसे पढ़कर इस पर भरपूर तनक़ीद करें। आर.एस.एस. के सेक्रेटरी ने परचे को पढ़ा और उसके बाद अपना तास्सुर बताते हुए कहा—

"अल-रिसाला की लैंग्वेज फ़र्स्ट क्लास है। इसके आर्टिकल भी बहुत अच्छे हैं। मुझे तो इसमें कोई कमी नज़र नहीं आई, जिस पर मैं क्रिटिसाइज़ करूँ।"

मज़कूरा सेक्रेटरी (आर.एस.एस.) बहुत अच्छे और माने हुए अंग्रेज़ी-दाँ हैं। उनके इस तब्सिरे के बाद अब उनके पास कहने की कोई बात ही नहीं रही।

मैंने नसीम अली ख़ाँ साहब से कहा कि उन्हें मेरा यह पैग़ाम पहुँचा दें कि अब आपका चुप होना सरासर बुज़दिली है। आपको बहादुरी वाला तरीक़ा इख़्तियार करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि तहरीरी तौर पर मज़कूरा सेक्रेटरी का वाक़या लिखें और खुले लफ़्ज़ों में एतिराफ़ करें कि मुझसे ग़लती हुई।

फिर मैंने नसीम अली ख़ाँ साहब से कहा कि बहादुरी इंसान की सबसे बड़ी सिफ़त है। जिस आदमी के अंदर बहादुरी होगी, उसके अंदर बाक़ी सिफ़तें अपने आप होंगी और जिस शख़्स के अंदर बहादुरी नहीं होगी, उसके बाद वह तमाम आला औसाफ़ से भी महरूम होगा।

22 जून, 1986

अबू धाबी (यू.ए.ई.) से एक अरबी माहनामा निकलता है। इसका नाम है— अल-मनार। इसकी इशाअत जनवरी, 1986 (रबीउल आख़िर, 1406 हिज्री) में सफ़हा 23 पर एक मज़मून है। इस मज़मून में उसके अरबी मज़मून-निगार ने लिखा है—

.المُسْلِمُونَ الَّذِينَ يُجِيدُونَ القَوْلَ وَلَا يُحْسِنُونَ العَمَلَ أَكْثَرُ ضَرَرًا عَلَى الإِسْلَامِ مِنْ أَعْدَائِهِ

"जो मुसलमान अच्छी बातें करते हैं, मगर उनका अमल अच्छा नहीं है, वे इस्लाम के लिए इससे भी ज़्यादा मुज़िर (detrimental) हैं, जितना कि उसके दुश्मन।"

मज़मून-निगार ने अपने मज़मून में दर्ज-ए-ज़ैल हदीस नक़ल की है—

إِنّ اللهَ تَعَالى يُحِبّ إِذَا عَمِلَ أَحَدُكُمْ عَمَلاً أَنْ يُتْقِنَهُ.

"रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने फ़रमाया कि अल्लाह उसे पसंद फ़रमाता है कि तुममें से कोई शख़्स जब एक काम करे, तो वह उसे बेहतरीन तौर पर करे।"

(मुस्नद अबी याला , हदीस नंबर 4386)

जब अल्लाह की पसंद यह है कि आदमी अपने काम में अपनी आला-तरीन सलाहियत इस्तेमाल करे और वह उसे बेहतर-से-बेहतर अंजाम दे, तो अल्लाह इसे कैसे पसंद कर सकता है कि आदमी के क़ौल-ओ-फ़ेल में मुताबक़त (coincidence) न हो। वह कहने के लिए अच्छी-अच्छी बातें कहे, मगर जब करना हो, तो न करे।

अमल में क़ौल की मुताबक़त पहला दर्जा है और अमल में ख़ूबी इसके आगे का दर्जा। जब अल्लाह को यह गवारा नहीं कि आदमी अच्छा अमल करने में कोताही करे, तो अल्लाह को यह

कैसे गवारा हो सकता है कि वह अपने क़ौल और अपने अमल में मुताबक़त न करे।

एक इंटरव्यू

(दूसरी क़िस्त)

सवाल : मौलाना, हमारी दीनी जमातों ने तामीर-ए-किरदार और अफ़कार और सियासत की इस्लाह का काम एक साथ शुरू किया हुआ है और इन तीन कामों में तवाज़ुन पैदा करने की कोशिश भी की जाती है। आपके ख़्याल में ये जमातें इस काम में किस हद तक कामयाब हुई?

जवाब : मेरा ख़्याल है कि तामीर-ए-अफ़राद का काम इन जमातों से नहीं हो सका। देखिए, जब आप कोई तहरीक उठाते हैं, तो देखना यह भी होता है कि अहम ज़ोर (main thrust) किस चीज़ पर है। अगर अहम ज़ोर अपनी ज़ात पर है, तो एहतिसाब-ए-ज़ात का जज़्बा उभरेगा और अगर अहम ज़ोर ख़ारिज पर है, तो एहतिसाब-ए-निज़ाम का जज़्बा उभरेगा। जहाँ एहतिसाब-ए-निज़ाम का जज़्बा उभरेगा, वहाँ इस्लाह-ए-ज़ात का काम नहीं हो सकता। इन जमातों का अहम ज़ोर निज़ाम पर था। नतीजा यह निकला कि इस्लाह-ए-ज़ात असल कंसर्न की हैसियत से अमलन ख़त्म हो गया।

असल बात यह है कि आदमी जिस क़िस्म की ताबीर-ए-दीन से मुतास्सिर होगा, वह हर मसले को उसी रंग में देखेगा। सियासत दीन का एक जुज़ है, मगर वह मरकज़ी जुज़ नहीं; लेकिन अगर आप इसे इसके असल मुक़ाम से हटाकर मरकज़ी जगह पर रख दें और दीन की ऐसी तशरीह करें कि सियासी इंक़लाब ही इस्लामी तहरीक का आख़िरी

मक़सूद नज़र आने लगे, तो यक़ीनी तौर पर आपके सोचने का अंदाज़ बदल जाएगा। जमाते-इस्लामी के साथ यही कुछ हुआ। अब जो लोग इसकी पैरवी कर रहे हैं, उनका अंजाम भी वही है। क़ुरआन मजीद में है कि अल्लाह ने इंसान के दो दिल नहीं बनाए। मतलब यह कि इंसान एक वक़्त में दो चीज़ों पर फोकस नहीं कर सकता। एक तालिबे-इल्म या तो डॉक्टर बन सकता है या दादागीरी कर सकता है। सिस्टम का मुहासबा भी हो और अपनी ज़ात का मुहासबा भी— यह हो नहीं सकता। यह इंसानी फ़ितरत के ख़िलाफ़ है और इंसानी फ़ितरत से टकराव मोल लेकर आप काम नहीं कर सकते।

सवाल : लेकिन मौलाना, जिन जमातों ने तामीरे-अफ़राद और एहतिसाबे-ज़ात (self-introspection) के काम पर ही ध्यान दिया और सिस्टम के मुहासबे से दूरी इख़्तियार कर ली, उनके असरात भी मुआशरे पर महदूद ही हैं। जैसा कि तब्लीग़ी जमात ने फ़र्द की तामीर को अपना मक़सूद क़रार दे दिया है और सियासत के काम से बिलकुल कट गई है?

जवाब : दरअस्ल यह तहरीक, जिसका आपने ज़िक्र किया, अक़ीदतमंदी की बुनियाद पर उठी है। इसका लिटरेचर फ़ज़ाइल तक महदूद है। अब ख़ुश-अक़ीदगी एक चीज़ है और फ़िक्री तब्दीली दूसरी चीज़। यह ख़ुश-अक़ीदगी नहीं तो क्या है कि मिस्वाक करो, तो जन्नत मिल जाएगी। इस तरह के अंदाज़े-कार से फ़िक्री तब्दीली नहीं आती और न मुआशरे पर देर-पा (long-lasting) असरात मुरत्तब हो सकते हैं।

क़ुरआन-ओ-सुन्नत के मुताले से दीन का जो मतलब मैं समझा हूँ, वह यह है कि दीन के तक़ाज़े दो क़िस्म के हैं। एक तक़ाज़ा जो दीन की बुनियाद और रूह है, वह है अल्लाह की मारिफ़त और उससे ख़ौफ़ और मोहब्बत का ताल्लुक़। इसके ऊपर एतिमाद, उसकी इबादत और मामलात-ए-ज़िंदगी में उसकी ताबेदारी। दूसरा तक़ाज़ा वह है, जो

माद्दी दुनिया और दीन के टकराव से पैदा होता है। दीन को फ़िक्री और अमली तौर पर सर-बुलंद रखने के लिए मुख़्तलिफ़ सूरतें पेश आती हैं और मौक़े के एतिबार से हर जगह मोमिन को उनसे निपटना पड़ता है। कहीं रुकाना बिन अब्दे यज़ीद से कुश्ती लड़नी पड़ती है, कहीं हस्सान बिन साबित को यह हुक्म दिया जाता है कि अशआर के ज़रिए मुख़ालिफ़ीन का जवाब दिया जाए। कहीं अक़्ल को मुत्मइन करने के लिए वक़्ती उस्लूब में हुज्जते-इब्राहीमी पेश करनी होती है, कहीं बद्र-ओ-हुनैन के मार्के दरपेश होते हैं, कहीं ग़ैर-मुस्लिमों से मुआहिदा करना पड़ता है वग़ैरह-वग़ैरह।

जहाँ तक पहले तक़ाज़े का ताल्लुक़ है, वह दीन की अस्ल है और हमेशा दीन के लिए मतलूब की हैसियत रखता है; मगर दूसरी चीज़ की यह हैसियत नहीं। वह दीन का इज़ाफ़ी हिस्सा है, न कि हक़ीक़ी। जिस वक़्त इस तरह के तक़ाज़े सामने आ चुके हों, उस वक़्त यह इज़ाफ़ी हिस्सा भी हक़ीक़ी हिस्से की तरह मतलूब क़रार पाता है; मगर जब हालात ने इसकी ज़रूरत पैदा न की हो, उस वक़्त मोमिन के ऊपर इस तरह की कोई ज़िम्मेदारी आयद नहीं होती।

तब्लीग़-ए-दीन का काम एक-एक फ़र्द में हक़ीक़ते-दीन को ज़िंदा करने की कोशिश है। यह बात मैं तब्लीग़ की असल यानी दावत के एतिबार से कह रहा हूँ, न कि इसके मख़्सूस तरीक़े-कार के एतिबार से; क्योंकि तरीक़े-कार ख़्वाह वह किसी भी जमात या तहरीक का हो, हमेशा इज़ाफ़ी होता है; लेकिन तब्लीग़ की सारी अहमियत को तस्लीम करने के बाद भी दीन के लिए कुछ और करने की ज़रूरत बाक़ी रहती है। इस दूसरे मैदान में उम्मत के दूसरे मौज़ूँ अफ़राद को जद्दोजहद करनी चाहिए और ख़ुद तब्लीग़ करने वालों को इख़्लास की शर्त के साथ उनकी कोशिश को तस्लीम करना चाहिए और इनफ़िरादी तौर पर इसमें हिस्सा लेने की कोशिश करनी चाहिए।

मिसाल के तौर पर बीसवीं सदी के निस्फ़ आख़िर में हमें यह चैलेंज दरपेश है कि मग़रिबी अफ़कार (western thinking) के हमले को रोका जाए और अमली तौर पर दीन की मुदाफ़अत (defence) की जाए। फिर यह कि जदीद दुनिया में मुसलमानों को इज़्ज़त और सर-बुलंदी का मुक़ाम दिलाने की तदबीरें की जाएँ, जदीद ज़रूरतों के मुताबिक़ इस्लामी क़ानून तर्तीब दिया जाए, मौजूदा हालात के एतिबार से मुसलमानों का एक नया निज़ाम मुरत्तब किया जाए, जम्हूरियत और सेक्यूलरिज़्म से वक़्ती तौर पर पैदा-शुदा मसाइल का हल तलाश किया जाए, जदीद ज़ेहन के लिहाज़ से इस्लाम का दावती लिटरेचर तैयार किया जाए। ये सारे काम कोई एक शख़्स या गिरोह अकेला सर-अंजाम नहीं दे सकता। यह मुमकिन है कि हरेक दूसरे को तस्लीम करे और एक-दूसरे से मशवरा करे और कम-अज़-कम इनफ़िरादी सतह पर एक-दूसरे से तआवुन करे। इस क़िस्म का तब्लीग़ी काम जो मौजूदा दौर में तब्लीग़ी जमात कर रही है, काफ़ी नहीं। मेरा ऐतराज़ यह है कि अक़ीदतमंदी ही को तब्लीग़ का मक़सद क़रार न दे दिया जाए, इसलिए कि इससे फ़िक्री तब्दीली की राह हमवार नहीं हो सकती।

सवाल : बाज़ असहाब-ए-फ़िक्र का ख़्याल है कि अंबिया-ए-किराम के बाद दावती, इल्मी और सियासी काम किसी एक शख़्सियत में न जमा हुआ है और न हो सकता है और यह कि सहाबा-ए-किराम ने काम की तक़सीम (तक़सीम-ए-कार) के उसूल ही को इख़्तियार किया। अब भी काम की तक़सीम का उसूल इख़्तियार करके दीनी काम को आगे बढ़ाया जा सकता है। यह नुक्ता भी उठाया गया कि इस मामले में अंबिया-ए-किराम को फॉलो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उनके ख़्याल में अंबिया किराम की ज़ात में ये सारे काम जमा हो गए थे। क्या काम की तक़सीम की इस ताबीर से आप इत्तिफ़ाक़ करते हैं?

जवाब : तक़सीम-ए-कार के उसूल से मुझे उसूली तौर पर इत्तिफ़ाक़ है, लेकिन तक़सीम-ए-कार किस चीज़ में, इसमें नहीं कि तुम दावत का काम करो, तुम इंक़लाब का काम करो, तुम जाकर उन्हें गोली मारने का काम करो और मैं पढ़ाता हूँ वग़ैरह। यह तक़सीम-ए-कार नहीं, मक़सद को फ़ौत करने के हम-मअनी है, बल्कि मरहला-ए-अव्वल में जिस चीज़ की ज़रूरत है, उसमें तक़सीम का उसूल इख़्तियार किया जाए। जैसे फ़िक्री इंक़लाब लाना है, तो फ़िक्री काम में तक़सीम-ए-कार होगी। कुछ लोग तहक़ीक़ का काम करें, कुछ अख़बार निकालें, कुछ लाइब्रेरियाँ क़ायम करें वग़ैरह-वग़ैरह।

सवाल : आपका ख़्याल है कि मरहला-ए-अव्वल में जो काम दरकार हैं, उनमें तद्रीज-ए-कार (graduality) है, उनमें तक़सीम-ए-कार नहीं?

जवाब : जी हाँ, तद्रीज-ए-कार है। अंबिया-ए-किराम ने भी इस तरह की तक़सीम-ए-कार के मुताबिक़ काम नहीं किया, बल्कि तद्रीज-ए-कार के मुताबिक़ काम किया है। यह वाक़ये के ख़िलाफ़ है कि अंबिया-ए-किराम ने ब-यक-वक़्त तमाम काम किए। इसका सबूत आँहुज़ूर सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की हयाते-मुबारका से मिलता है। मक्का में सिर्फ़ नज़रिये की तब्लीग़ की। शराब और ज़िना को छोड़ने का हुक्म तक न उतरा। काबा में बुत रखे थे, उन्हें छेड़ने का हुक्म न उतरा। इसी तरह आँहुज़ूर सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम की ज़िंदगी से कई मिसालें पेश की जा सकती हैं। रसूलुल्लाह ने कम-अज़-कम तेरह साल तक अपने आपको मरहला-ए-अव्वल तक महदूद रखा। इसके बाद बेतद्रीज अहकाम उतरने लगे। आँहुज़ूर सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने तद्रीज-ए-कार के मुताबिक़ काम किया, तक़सीम-ए-कार के मुताबिक़ नहीं।

सवाल : हमारे यहाँ 'इक़्तिदार के बग़ैर भलाई के काम में इताअत' की बुनियाद पर बाज़ जमातें क़ायम की गई हैं, जिनका अपने पैरोक़ारों से यह मुतालबा होता है कि मारूफ़ में अमीर की इताअत उनके लिए लाज़िम है, जिस तरह इस्लामी हुकूमत के अमीर की इताअत उसकी रिआया पर लाज़िम होती है। आपके ख़्याल में क्या शरीयत में इसकी गुंजाइश है?

जवाब : मुझे इससे इत्तिफ़ाक़ नहीं। मेरे नज़दीक जमात-साज़ी या अमीर मुक़र्रर करना सहूलत-कार के लिए है। यह फ़रीज़ा-ए-दीन नहीं। जिन जमातों का आपने ज़िक्र किया है, वे इसे फ़रीज़ा-ए-दीन क़रार देती हैं। अब इस्लामी मम्लिकत के अमीर की इताअत से बाहर निकलना मुमकिन नहीं होता और इससे बग़ावत जायज़ नहीं होती। इन लोगों के फ़हम-ए-हदीस का तो यह आलम है कि जो हदीस इस्लामी मम्लिकत के अमीर के लिए है, वे इसे अपनी ज़ात पर चस्पाँ कर लेते हैं। हालाँकि 'अल-जमाअत' और चीज़ है, इनकी जमात और चीज़।

सवाल : बाज़ लोगों का ख़्याल है कि दीन की इक़ामत उसी तरह फ़र्ज़ है, जिस तरह कि नमाज़, ज़कात वग़ैरह?

जवाब : इक़ामत-ए-दीन का जो मतलब हमारे यहाँ बाज़ जमातें पेश करती हैं, वह उनका ख़ुद-साख़्ता है। वे इक़ामत-ए-दीन से इक़ामत-ए-निज़ाम मुराद लेती हैं। यह इक़ामत-ए-दीन की ग़लत ताबीर है। इक़ामत-ए-दीन से मुराद सारे शरई निज़ाम को लोगों के ऊपर नाफ़िज़ करना नहीं, बल्कि दीन के उस बुनियादी हिस्से को पूरी तरह इख़्तियार करना है, जो हर शख़्स से हर हाल में मतलूब है और जिसे अपनी ज़िंदगी में पूरी तरह शामिल कर लेने के बाद कोई शख़्स ख़ुदा की नज़र में मुसलमान बनता है। क़ुरआन की जिस आयत से ये लोग इस्तिदलाल करते हैं, वहाँ 'अक़ीमुद्दीन' से मुराद असासात-ए-दीन है यानी तौहीद और आख़िरत वग़ैरह। तमाम उलमा ने इसकी यही तफ़्सीर की है और इसका यही मतलब बयान किया है।

सवाल : मौलाना, बाज़ उलमा का ख़्याल है कि एक मुसलमान के लिए दीन का काम करने की दो ही सूरतें हैं— या तो वह पहले से मौजूद किसी जमात में शामिल हो जाए और अगर यह मुमकिन न हो, तो अपनी जमात क़ायम कर ले, तीसरा कोई रास्ता नहीं। आपका क्या ख़्याल है?

जवाब : मैं इस ख़्याल से मुत्तफ़िक़ नहीं। किसी जमात में शुमूलियत के बग़ैर भी दीन का काम हो सकता है। क़ुरआन-ओ-हदीस में इस अम्र की कोई पाबंदी नहीं। यह फ़राइज़-ए-दीन में शामिल नहीं। यह उन लोगों का ख़ुद-साख़्ता दीनी फ़र्ज़ है। अपनी ख़ुद-साख़्ता ताबीरों के लिए ये ख़ुदा के सामने ख़ुद ही जवाबदेह होंगे।

सवाल : आप जमात-ए-इस्लामी हिंद में तवील अरसे तक शामिल रहे हैं। क्या जमात-ए-इस्लामी हिंद अब भी उन्हीं बुनियादों पर काम कर रही है, जिन बुनियादों पर तक़सीम-ए-हिंद से क़ब्ल कर रही थी?

जवाब : यह एक दर्दनाक कहानी है। जमात-ए-इस्लामी हिंद फ़िक्र और अक़ीदे के एतिबार से तो वही है, जो कि पाकिस्तान की जमात-ए-इस्लामी है, लेकिन इसके अमली हालात मुख़्तलिफ़ हैं। जब मैं जमात-ए-इस्लामी हिंद में था, तो उस वक़्त क़ौमी और मुल्की मसाइल को प्रोग्राम में शामिल करना गुनाह के दर्जे में था। उनका ख़्याल था कि वे आलमी जमात हैं, उनका नज़रिया आलमी है और यह कि क़ौमी मसाइल हक़ीक़त में कुछ नहीं; लेकिन आज उनकी पूरी तहरीक क़ौमी मसाइल की बुनियाद पर चल रही है। मैंने उनसे कहा कि जब तक आप यह ऐलान न करें कि आपने अपने पिछले नज़रिये को छोड़ दिया है, उस वक़्त तक क़ौमी मसाइल के लिए तहरीक चलाना आपके लिए मुफ़ीद नहीं। यह क्या कि यह भी सही और वह भी सही। लिटरेचर में लिखा हुआ है कि तालीम-गाहें क़त्ल-गाहें हैं। आज जमात-ए-इस्लामी

के लोग स्कूलों में पढ़ भी रहे हैं, मुलाज़मतें भी कर रहे हैं। इस तरह इन लोगों ने दोहरा मेयार इख़्तियार कर रखा है और डबल स्टैंडर्ड इख़्तियार करके आदमी कहीं का नहीं रहता। जमात-ए-इस्लामी हिंद के साथ यही कुछ हुआ है।

सवाल : जमात-ए-इस्लामी पाकिस्तान गुज़श्ता पैंतालीस साल से इस्लामी निज़ाम के निफ़ाज़ के लिए जद्दोजहद कर रही है। आपके ख़्याल में अब तक इसे कितनी कामयाबी हासिल हुई?

जवाब : जमात-ए-इस्लामी पाकिस्तान इस्लामी निज़ाम के निफ़ाज़ के लिए जो जद्दोजहद कर रही है, मैं उसे 'उसूलन' सही समझता हूँ। पाकिस्तान एक मुस्लिम मुल्क है और आज़ादी के बाद उसूली तौर पर वहाँ की आबादी को यह इख़्तियार हासिल हो गया है कि वह अपने यहाँ जिस तरीक़-ए-ज़िंदगी और जिस समाजी निज़ाम को चाहे राइज करे। ऐसी हालत में पाकिस्तान की उम्मत-ए-मुस्लिमा का यह फ़र्ज़ हो गया है कि वह अपने दरमियान इस्लामी निज़ाम-ए-इमारत क़ायम करे। उसके तहत ज़िंदगी के तमाम शोबों को इस्लामी अहकाम और क़वानीन के मुताबिक़ मुनज़्ज़म करे, लेकिन जमात की इस जद्दोजहद के पीछे जो फ़लसफ़ा है, वह सही नहीं। मुझे उम्मीद नहीं कि उनकी यह जद्दोजहद कामयाब होगी और अगर कामयाब हो भी गई, तो किरदार की कमज़ोरी बहुत जल्द इसे नाकामी में बदल देगी। पाकिस्तान में जमात-ए-इस्लामी की हुकूमत का वही हश्र होगा, जो केरला में कभी कम्यूनिस्ट वज़ारत का हुआ था। पाकिस्तान में जमात-ए-इस्लामी के तरीक़-ए-कार से मुझे यह इख़्तिलाफ़ है कि इसने तद्रीज-ए-कार का ख़्याल नहीं रखा। यह उसूल के ख़िलाफ़ है कि पहले मरहले में ही हुकूमत पर क़ब्ज़ा करने की कोशिश की जाए। यह 'उल्टा अहराम' (inverted pyramid) तामीर करने के हम-मअना है, जो न कभी बना है और न बन सकता है?

सवाल : मौलाना, आए रोज़ हिंदुस्तान से फ़िर्क़ा-वाराना फ़सादात की ख़बरें आती रहती हैं। आप बताएँगे कि वहाँ इन फ़सादात का हक़ीक़ी सबब क्या है और य कि वहाँ के मुसलमानों के लिए नजात की राह क्या है?

जवाब : हिंदुस्तान में मुसलमानों की तादाद दस-बारह करोड़ है। तारीख़ में कोई मिसाल नहीं कि इतनी बड़ी तादाद को ज़ुल्म और फ़साद के ज़रिए मिटा दिया गया हो। इसके बरअक्स हक़ीक़त यह है कि इस तरह के फ़साद मुसलमानों की ज़िंदगी की सबसे बड़ी ज़मानत हैं, क्योंकि यह एक ऐसी दुनिया है कि जहाँ दबने के बाद ज़्यादा उभरने का उसूल राइज है। ऐसे लोगों की बदक़िस्मती यह है कि क़ानून-ए-क़ुदरत उनकी राह में रुकावट है। तारीख़ बताती है कि तहज़ीबों को वजूद में लाने वाली हमेशा वे क़ौमें थीं, जो शिकस्त और महरूमी से दो-चार की गईं। मिसाल के तौर पर मग़रिब की मसीही क़ुव्वतें सलीबी जंगों में शिकस्त के बाद जदीद सनअती तहज़ीब (industrial civilization) की ख़ालिक़ बनीं। इसका मतलब यह है कि जो लोग मुसलमानों को महरूमी और शिकस्त में मुब्तला करके उनके ख़ात्मे का ख़्वाब देख रहे हैं, वे एक ऐसे नतीजे का इंतज़ार कर रहे हैं, जो क़ानून-ए-क़ुदरत के मुताबिक़ उनके अंदाज़ों के सरासर ख़िलाफ़, बल्कि बरअक्स सूरत में ज़ाहिर होने वाला है।

सवाल : सवाल यह है कि मुसलमानों के लिए अब नजात की राह क्या है?

जवाब : हिंदुस्तान में फ़िर्क़ा-वाराना फ़सादात का सबब ख़्वाह कुछ भी हो, मगर यह एक हक़ीक़त है कि ये फ़सादात अगर बंद होंगे, तो सिर्फ़ उस वक़्त होंगे, जब मुसलमान अपने हिस्से का फ़साद बंद कर देंगे। मुसलमान अपने हिस्से का सबब ख़त्म करके दूसरों को आमादा कर सकते हैं कि वे अपने हिस्से का सबब ख़त्म कर दें। हिंदुस्तान के

फ़िर्क़ा-वाराना फ़सादात सिर्फ़ एकतरफ़ा कार्रवाई से ख़त्म हो सकते हैं और यह एकतरफ़ा कार्रवाई बहरहाल मुसलमानों को करनी होगी। रसूलुल्लाह सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम ने हुदैबिया में एकतरफ़ा तौर पर राज़ी होकर क़ुरैश की फ़साद-अंगेज़ियों का सिलसिला ख़त्म करवा दिया। इसी तरह हमें भी एकतरफ़ा तौर पर अपने आपको पाबंद बनाना है। अगर हम दूसरे फ़रीक़ की तरफ़ से बंदिश की कार्रवाई का इंतज़ार करेंगे, तो ऐसा इंतज़ार कभी ख़त्म होने वाला नहीं।

सवाल : मुसलमान फ़सादात को ख़त्म करने के लिए क्या करें?

जवाब : मुसलमान फ़साद को ख़त्म करने के लिए यह करें कि उकसावे के बावजूद न भड़कें। तमाम फ़सादात का मुश्तरक (साझा) सबब यह है कि मुसलमान इस राज़ को नहीं जानते कि ज़िंदगी में कुछ मसाइल ऐसे होते हैं, जिन्हें नज़र-अंदाज़ करना पड़ता है। अब जिस चीज़ को नज़र-अंदाज़ करना चाहिए, उस पर मुसलमान भड़क उठते हैं और इसका लाज़िमी नतीजा फ़साद है।

पाकिस्तान में फ़िर्क़ा-वाराना फ़सादात का सबब क्या है? क्यों कराची में फ़साद बरपा होता है? क्यों क्वेटा में शिया-सुन्नी तसादुम (riot) होता है? क्यों पंजाबी-सिंधी टकराव होता है? इसीलिए कि हर माहौल में कुछ चीज़ें ऐसी पाई जाती हैं, जिनसे उलझने के बजाय उन्हें नज़र-अंदाज़ करना ज़रूरी हो जाता है। उनसे उलझना उन्हें और बढ़ाने के हम-मअनी है। यह ज़िंदगी की एक हक़ीक़त है, इसीलिए क़ुरआन में सब्र और एराज़ (avoid) को बहुत अहमियत दी गई है।

नज़र-अंदाज़ कर देने वाली बातों को नज़र-अंदाज़ न करना वह ग़लती है, जिसमें हिंदुस्तान के मुसलमान भी मुब्तला हैं और पाकिस्तान के मुसलमान भी। इसकी क़ीमत दोनों जगह के मुसलमान शदीद-तरीन सूरत में अदा कर रहे हैं। हिंदुस्तान के मुसलमान फ़िर्क़ा-वाराना फ़सादात की सूरत में इसकी क़ीमत अदा कर रहे हैं और पाकिस्तान के मुसलमान

कमज़ोर सियासी निज़ाम की सूरत में। हिंदुस्तान के मुसलमानों के लिए फ़सादात का वाहिद हल 'एराज़' है। मुसलमान इस 'एराज़' को इस्तेमाल करेंगे, तो एक दिन में तमाम फ़सादात बंद हो जाएँगे। अगर मुसलमान इस तरीक़े पर राज़ी न होंगे, तो मौजूदा तदबीरों से आइंदा पचास साल तक भी फ़सादात बंद न होंगे, जिस तरह गुज़िश्ता पचास साल में इस क़िस्म की तदबीरों के बावजूद फ़सादात बंद नहीं हुए।

फिर यह कि हिंदुस्तान के फ़िर्क़ा-वाराना फ़सादात पर जब कोई मुसलमान बात करता है, तो वह हमेशा एक ही चीज़ की कोशिश करता है कि ख़ालिस क़ानूनी और मंतिक़ी जायज़ा लेकर यह देखता है कि कौन-सा फ़रीक़ हक़ पर है और कौन ना-हक़ पर। यह तरीक़ा सरासर ग़लत है, क्योंकि बाज़ मामले ऐसे होते हैं, जिनमें हक़ और ना-हक़ को नहीं देखा जाता, बल्कि सिर्फ़ यह देखा जाता है कि इसका अमली हल क्या है।

हुदैबिया के मुक़ाम पर जब मुसलमानों और क़ुरैश के दरमियान सुलह का मुआहिदा लिखा जा रहा था, तो आप (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने इसका मज़मून इमला कराते हुए कातिब से कहा— "लिखो यह वह है, जिस पर अल्लाह के रसूल ने सुलह की (هَذَا مَا صَالَحَ عَلَيْهِ مُحَمَّدٌ رَسُولَ اللَهِ)।" क़ुरैश के नुमाइंदे ने कहा— "हरगिज़ नहीं, अगर हम आपको रसूल मानते तो झगड़ा क्या था! सिर्फ़ मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह लिखो।" आपने फ़ौरन कातिब से कहा— "मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह लिख दो।"

अगर आप इसे हक़ और ना-हक़ का मामला बनाते तो कभी इस मामले को मानने पर रज़ामंद न होते, ख़्वाह सारे मुसलमान वहीं कटकर मर जाते; मगर आपने अमली पहलू देखा, क्योंकि उस वक़्त अमलन इसके सिवा कोई हल न था। इसीलिए आप 'मुहम्मद रसूलुल्लाह' का लफ़्ज़ छोड़कर सिर्फ़ 'मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह' लिखने पर राज़ी हो गए।

(जारी)

आइडियल विज़डम, प्रैक्टिकल विज़डम

पैग़ंबर-ए-इस्लाम एक मर्तबा अपने साथियों के साथ सफ़र में थे। आपको यह ख़बर मिली कि रास्ते में दूसरी तरफ़ से मक्का के ख़ालिद बिन वलीद आपसे मुक़ाबला करने के इरादे से फ़ौजियों की एक टुकड़ी लेकर आ रहे हैं। उस वक़्त आपने अपने साथियों से कहा— "तुममें से कौन है, जो हम लोगों को किसी और रास्ते से ले जाए, जिस पर उनसे टकराव न हो (مَنْ رَجُلٌ يَخْرُجُ بِنَا عَلَى طَرِيقٍ غَيْرِ طَرِيقِهِمْ الَّتِي هُمْ بِهَا؟)?" एक आदमी ने कहा कि मैं। चुनाँचे आपने उस वक़्त अपने सफ़र का रास्ता बदल दिया।

(सीरत इब्न-ए-हिशाम, जिल्द 2, सफ़हा 309)

इस वजह से आपके साथियों और ख़ालिद के साथियों में मुठभेड़ नहीं हुई और आप वहाँ पहुँच गए, जहाँ आपको जाना था।

इस तरीक़े को एक लफ़्ज़ में 'प्रैक्टिकल विज़डम' कहा जा सकता है। आपकी ज़िंदगी के वाक़यात कहते हैं कि आपने हमेशा ऐसा किया कि आपने 'आइडियल विज़डम' को छोड़ा और 'प्रैक्टिकल विज़डम' को इख़्तियार किया। आपको अपने मिशन में जो ग़ैर-मामूली कामयाबी हासिल हुई, उसका सबब यक़ीनी तौर पर यही 'प्रैक्टिकल विज़डम' है। तजुर्बा बताता है कि 'आइडियल विज़डम' नतीजे के एतिबार से बे-फ़ायदा टकराव की तरफ़ ले जाता है। इसके बरअक्स 'प्रैक्टिकल विज़डम' ग़ैर-ज़रूरी नुक़सान से बचाकर कामयाबी की मंज़िल तक पहुँचा देती है।

क़ारईन-ए-अल-रिसाला

('अल-रिसाला' मिशन का मक़सद लोगों को ख़ुदा से क़रीब करना और उनमें आला सोच पैदा करना है। 'अल-रिसाला' और 'अल-रिसाला' मिशन की किताबों के मुताले से लोगों की ज़िंदगी में किस क़िस्म की तब्दीलियाँ पैदा हो रही हैं, इसकी मिसालें रोज़ाना सामने आती रहती हैं। जो लोग 'अल-रिसाला' का बराबर मुताला करते हैं, उनमें मारिफ़त-ए-ख़ुदावंदी, संजीदगी और हक़ीक़त-पसंदी पैदा होती है। नीचे 'अल-रिसाला' मिशन के क़दीम व जदीद क़ारईन (readers) के कुछ तास्सुरात नक़ल किए जा रहे हैं, ताकि 'अल-रिसाला' के मौजूदा क़ारईन को इनसे अपने तज़्किया, मारिफ़त और दावत के लिए मज़ीद तहरीक मिल सके— एडिटर)

नई दिल्ली के रामलीला मैदान में अक्टूबर, 1984 में एक जलसा हुआ। इसमें इस्लामी मरकज़ की किताबों का स्टाल लगाया गया था। इस मौक़े पर एक रजिस्टर भी रखा गया था, जिसमें बहुत-से लोगों ने अपने तास्सुरात क़लम-बंद किए। उनमें से एक तब्सिरा यह है—

"The 'Introduction to Islam Series' publications have been found useful, but it was observed that these are printed in English and Urdu languages only. With the viewpoint of the propagation of Islamic teachings all the useful handbooks or booklets should also be released in the rest of the modern Indian languages. On the whole, the rest of the publications displayed here are excellent and bearing the upto date information about Islam. Thanks for the endeavour in this regard."

—Chander Mohan, D-917, Netaji Nagar, New Delhi
23 (February, 1985)

श्री मंगल सेन अपने ख़त (मौरख़ा; 4 अप्रैल, 1985) में लिखते हैं—

"आपका माहनामा 'अल-रिसाला' बाक़ायदगी से दस्तयाब हो रहा है और जब यह पहुँचता है, तो सारे काम छोड़कर इस पर झपट पड़ने को जी चाहता है। किसी से बातचीत हो रही हो, तो फ़ौरन ख़त्म करके इसे पढ़ना शुरू करके तस्कीन मिलती है। बिला-शुब्हा ख़ुदा ने आपके क़लम में वह रवानी अता की हुई है, जिससे हमारे पाठकों को बहुत आनंद आता है। गोया कि यह तहरीर किसी अल्लाह वाले की तहरीर मालूम पड़ती है।" (जुलाई, 1985)

एक साहब बंबई से लिखते हैं—

"'अल-रिसाला' में एक मुनफ़रिद बात यह है कि इसे किसी भी शख़्स को, ख़्वाह वह किसी भी शोबे का हो और किसी भी मज़हब से ताल्लुक़ रखता हो, देने में हिचकिचाहट नहीं होती। यह बात किसी और किताब में नहीं है। हमें कोई भी परचा देने से पहले सोचना पड़ता है और बहुत-सी जगह न देने पर गुज़ारा करना पड़ता है। 'अल-रिसाला' ख़ुदा का ख़ौफ़, हुज़ूर से शदीद मोहब्बत और ईमान मज़बूत करता है। इसके ज़रिए ग़ुस्सा, तकब्बुर, ग़ुरूर कम होता है और आख़िरत का डर और इस्लाम को फैलाने का एहसास बढ़ता है।"

एक प्रोफ़ेसर साहब 'अल-रिसाला' (अंग्रेज़ी) पर नज़र डालते हुए ख़ुद-ब-ख़ुद कह उठे—

"बेशक, बेशक! आज के दौर में कम ख़र्च, कम वक़्त और ज़्यादा मुनासिब तरीक़े पर हम ग़ैर-मुस्लिमों में इस्लाम को अंग्रेज़ी 'अल-रिसाला' के ज़रिए ही पेश कर सकते हैं।"

(नवंबर, 1985)

महबूब नगर से एक साहब का ख़त (12 अप्रैल, 1985) मौसूल हुआ है। इस ख़त का एक हिस्सा यह है—

"मैं हैदराबाद ब-ज़रिया ट्रेन जाने की तैयारी में था कि 'अल-रिसाला' अप्रैल, 1985 आ पहुँचा। मैंने सोचा कि ढाई घंटे के सफ़र का साथी मिल गया। ट्रेन चलती रही। मैं 'अल-रिसाला' में गुम था, यहाँ तक कि आख़िरी मज़मून शुरू हुआ। रोने की कैफ़ियत पैदा हो गई, आँसू बहने लगे। गिर्द-ओ-पेश की कुछ ख़बर न रही, यह भी याद नहीं रहा कि मैं सफ़र में हूँ। मेरे अतराफ़ कम-अज़-कम चार-छह मुसाफ़िर तो मुझे देख रहे होंगे। मज़मून ख़त्म हुआ, तो पास में बैठे एक ग़ैर-मुस्लिम बुज़ुर्ग हमसफ़र ने पूछा, 'क्या बात है भाई, कोई ट्रेजेडी भरी कहानी पढ़ रहे थे क्या?' मैंने कहा, 'नहीं, यह मज़हबी परचा है।' फिर मैंने उनके कहने पर मज़मून के बारे में मुख़्तसरन बताते हुए कुछ लाइनें पढ़कर सुनाईं, जिससे वे काफ़ी मुतास्सिर होकर कहने लगे कि जो तहरीक ईसार (selflessness) और क़ुर्बानी पर चलती है, वह ज़रूर कामयाब होती है।" (दिसंबर, 1985)

एक साहब बंगलौर से (28 अक्टूबर, 1985 के ख़त में) लिखते हैं—

"मैं कई साल से 'अल-रिसाला' का क़ारी हूँ। इससे मुझे बहुत फ़ायदा पहुँचा। इससे पहले मैं हक़ की पगडंडी पर चल रहा था, अब मैं हक़ की शाह-राह पर चलते हुए मोमिन की कैफ़ियत अपने अंदर महसूस करता हूँ। मौलाना का अंदाज़-ए-बयान मेरे एहसास में ऐसा उतरता है, जैसे उन्होंने मेरे दिल की बातों ही की तस्दीक़ की है। अल्लाह का बहुत बड़ा फ़ज़्ल है कि मौलाना साहब से मुझे बहुत तक़्विय्यत मिली है।"

(फ़रवरी, 1986)

नीचे एक जदीद तालीम-याफ़्ता ख़ातून का तास्सुर नक़ल किया जा रहा है—

From Atheism to Belief:"A few years ago, my father was an atheist. He had listened to conventional religious

speakers and read various religious books, believing they all essentially conveyed the same messages, even the Quran. Hearing my father talk about conventional Islam daily, I, too, began to adopt his views.

However, he eventually started reading translations of the Quran in English and Bengali. After years of carefully studying the Quran, my father's beliefs shifted.

When I was living in the hostel, the religious teachers there imposed numerous restrictions on the girls—saying we couldn't do this or that, implying that girls weren't suitable for work outside the home and should remain within its boundaries. These limitations made me start resenting my religion. I wondered, if there is a Creator, why does such inequality exist between boys and girls?

A few months ago, a close friend introduced me to the works of Maulana Wahiduddin Khan. They said, 'Read Maulana Wahiduddin's books, and your perspective will change.' I have only read a little so far, but I already understand that what many so-called religious scholars have been saying differs from what the Quran actually conveys.

On October 14, a few members of Maulana Wahiduddin Khan's CPS (Centre for Peace and Spirituality) team visited our home. We discussed

religious matters, as well as Maulana Wahiduddin Khan's works, writings, and philosophies. Hearing these discussions, many of my beliefs began to change. I realize now that understanding the Creator is complex, but I believe that by reading the Quran in a language I understand, I will find answers to my questions. I am truly happy to have been connected with the CPS team."

—Ms. Tamanna Khatun, D/o A. H. Mondal, Nadia, West Bengal

No. 50760/90

शांति और आध्यात्मिकता पर और किताबें।

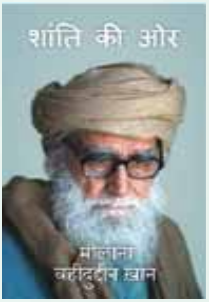

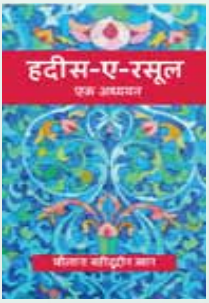

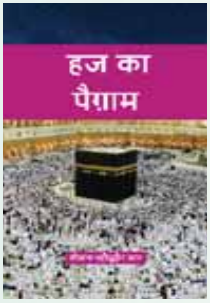

आध्यात्मिक सेट

₹30/-

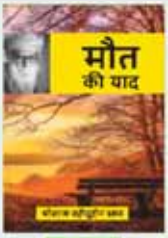

₹40/-

₹20/-

₹40/-

₹30/-

₹45/-

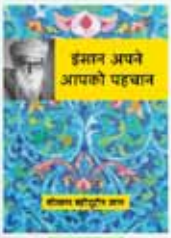

₹20/-

₹40/-